संस्कृति

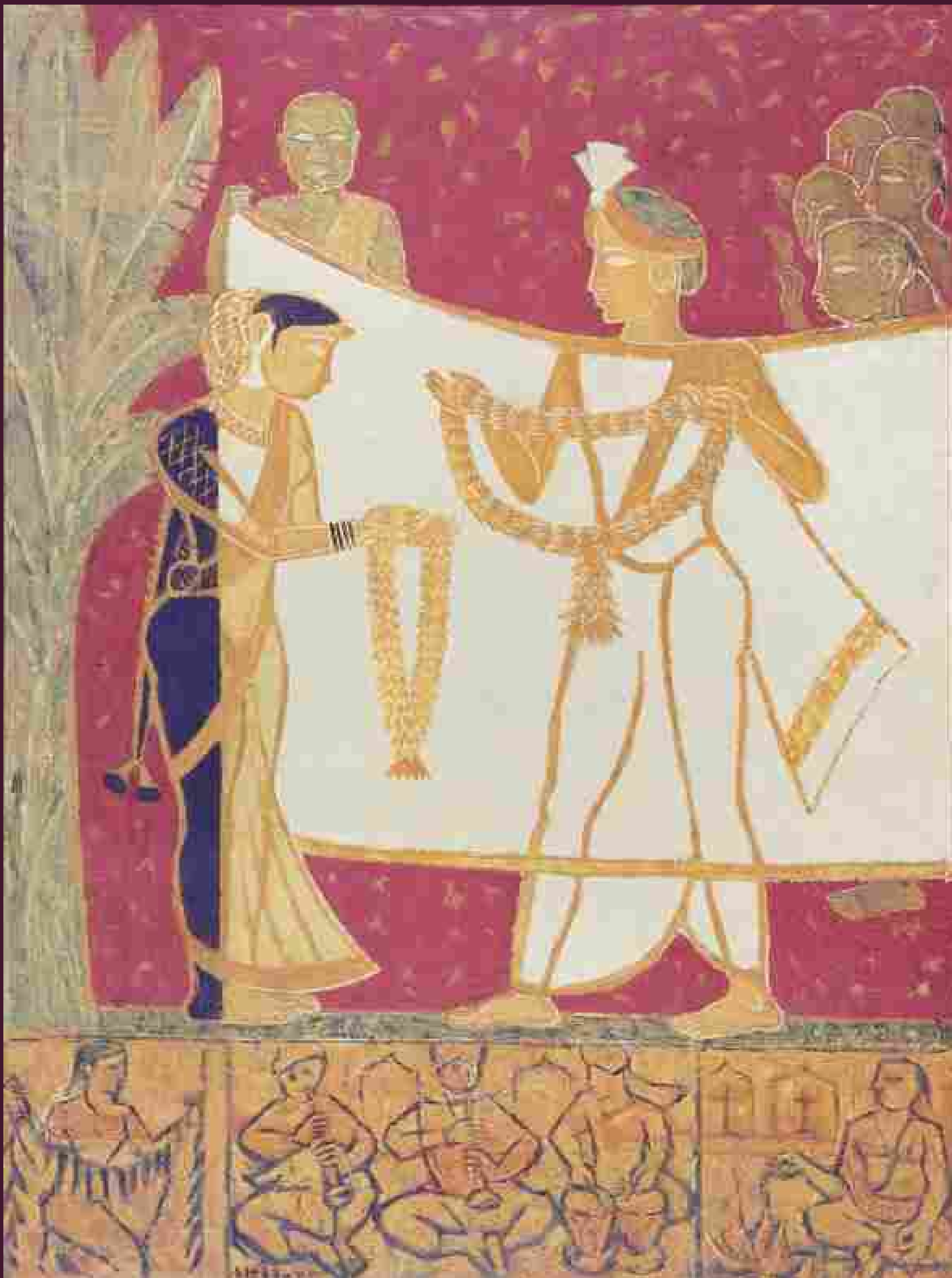

अंक-10, सितम्बर-2005

संस्कृति

सत्यमेव जयते

संस्कृति मंत्रालय

भारत सरकार

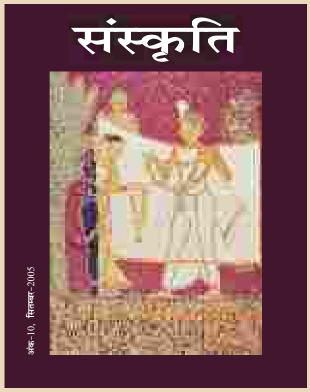

संरक्षक:

नीना रंजन, सचिव, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार

मुख्य परामर्शदाता:

के० जयकुमार, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार

कला परामर्शदाता:

डॉ. राजीव लोचन, निदेशक, (रा० आ० क० सं०), नई दिल्ली

सम्पादक:

मोहिनी हिंगोरानी, निदेशक, संस्कृति मंत्रालय

उप सम्पादक:

श्याम सूद, उप निदेशक, संस्कृति मंत्रालय

सह सम्पादक:

मीमांसक, सहायक निदेशक, राष्ट्रीय अभिलेखागार

मुख्य आवरण :
'विवाह की रस्म' - के. के. हैब्बर

भीतरी मुख्य आवरण :
'विकर्ण' - तैयब मेहता

अंतिम आवरण :
'क्रूसीफिकेशन' - जेमिनी रॉय

पोस्टर :
'मदर टेरेसा' - एम. एफ. हुसैन

सौजन्य: रा० आ० क० सं०, नई दिल्ली

भीतरी अंतिम आवरण :
'अनन्त शक्ति' - नीना रंजन

संपादकीय पता

210, विज्ञान भवन एनेक्सी,
मौलाना आजाद रोड, नई दिल्ली-110011
दूरभाष : 91-11-23022041, 23022048
फैक्स : 91-11-23022045

सितम्बर-2005, अर्द्धवार्षिक
अंक-10

केवल नि:शुल्क सीमित वितरण के लिए

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उससे मंत्रालय या सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

अनुक्रम

1 संगीत दिव्य अभिव्यक्ति है — डॉ० ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

5 आधुनिक भारत : परम्परा और भविष्य — शीला गुजराल

9 संस्कृति मंत्रालय द्वारा आयोजित महत्वपूर्ण समारोह — उमेश कुमार

10 ''ताजमहल'' पर बच्चों की क़लम — सम्पादक

12 मेरे पिता श्री लाल बहादुर शास्त्री — अनिल शास्त्री

15 दांडी मार्च : सांप्रदायिक सद्भाव का आंदोलन — मधुकर उपाध्याय

20 प्रेमचंद का अदब और तन्क़ीदे हयात — जुबैर रज़वी

26 कथा-संस्कृति : वैश्विक परिदृश्य — कमलेश्वर

35 मानव-संस्कृति को भारत का अवदान — प्रो. लोकेश चन्द्र

37 कला जो कल भी रहेगी — प्रयाग शुक्ल

विश्व-संस्कृति महिलाओं से ही सप्राण है
डॉ० सरोजनी प्रीतम 43

भारत के आदिवासी : कला और लोक साहित्य
राजेन्द्र अवस्थी 47

कला : चित्रकला, मधुबनी और कुमाऊँनी
नवीन जोशी 52

भारतीय संस्कृति में नारी-शृंगार : मेंहदी
डॉ० हर्ष नन्दिनी भाटिया 57

चोलकालीन कला का सौन्दर्यशास्त्र
डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव 60

इतिहास के यायावर
मीमांसक 63

फीजी की हिन्दी कविता में भारतीय संस्कृति
जोगिन्द्र सिंह कंवल 72

त्रिनिदाद एवं टुबैगो में भारतीय संस्कृति
राकेश पाण्डेय 81

उस फूल का नाम
सिम्मी हर्षिता 85

एक होली : सात समन्दर पार
डॉ० सुरेश ऋतुपर्ण 93

आपका पत्र मिला 95

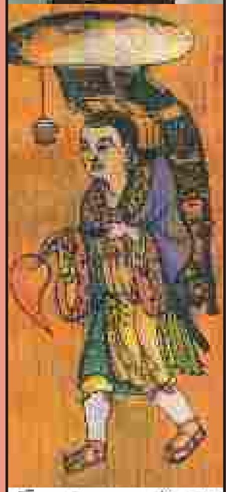

सम्भावनाएं असीम हैं .....

कहा जा रहा है कि भारत अगले 25 वर्षों में महाशक्ति बन जाएगा। नि:संदेह, यह तो होना ही है। 'अप्प दीपो भव' और सह-अस्तित्व सरीखे उदात्त मूल्यों से सिंचित 'सोने की चिड़िया' प्राचीन काल से ही विदेशियों को लुभाती रही है। तब नाविक, यायावर अथवा आक्रमणकारी आते थे भौतिक सम्पदा की खोज में - मसाले, बहुमूल्य धातुएं, रेशम, हीरे-जवाहरात आदि - जो उस समय के 'हार्डवेयर' थे। आज भारत अपनी सांस्कृतिक सोच, सूक्ष्म ऊर्जा और बौद्धिक सम्पदा के 'सॉफटवेयर' से सबको अपना लोहा मनवा रहा है।

भारत की जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा आज युवा है। 'ब्रॉड बैंड कनेक्टिविटी' और बुद्धू बक्से पर शताधिक चैनलों की 'सुलभता' के परिप्रेक्ष्य में अन्य विषयों के साथ-साथ संस्कृति भी बेतार के तार पर सवार होकर पलभर में विश्व के किसी भी कोने में कमाल कर आती है। भौगोलिक सीमाओं से रहित उत्तर आधुनिक 'वर्चुअल' विश्व में 'लिव लोकली, थिंक ग्लोबली' का संदेश देती हवाओं में संस्कृति कर्मियों के लिए भी सम्भावनाएँ असीम हैं।

प्रतिभा नई परम्पराएं बनाती है। विश्व स्तर पर कला बाजार में समकालीन भारतीय कलाकारों ने करोड़ों कमाए हैं। योग और ध्यान चिकित्सा का विकल्प बन रहे हैं। हॉलीवुड के सितारे भारत के 'न्यू एज' गुरुओं की शरण में निर्वाण का अनुसंधान कर रहे हैं। बंगलौर और गुड़गांव में बने पार्श्व-कार्यालय विश्व को निपटा रहे हैं। जगत के गोरे-काले, लम्बे-नाटे सभी मुम्बइया फार्मूलों की फिल्मों में एक साथ हंसते-रोते हैं, सुगन्धित मसालों से लैस हमारे तीखे-खट्टे-मीठे भोजन का स्वाद लेते हैं। हम 'फोर्ब्स सर्वेक्षणों', 'वोग' और 'टाइम्स' में सम्मानजनक रूप से उल्लिखित हो रहे हैं। भारत के सबसे बड़े संसाधन श्रमशक्ति ने अपनी बौद्धिक सम्पदा को पद, प्रतिष्ठा और प्रभाव में परिणत कर दिया है।

स्थानीय स्तर पर भी हम आज अपनी गौरवशाली सामासिक संस्कृति से निकले ताजमहल, प्रेमचंद, दांडी मार्च, लाल बहादुर शास्त्री और श्री आदिग्रंथ साहिब जैसे 'अमृतघटों' को याद कर रहे हैं। संक्रांति का यह समय चेतने का भी है। अपनी संस्कृति को प्रायोजित कर विदेशों में निर्यात करने की दौड़ में कहीं यह अपने ही घर में हाथ से फिसल तो नहीं रही। पांच हज़ार वर्षों से विरासत में मिली संस्कृति की समृद्धि के संग्रहालय की कला-वस्तु बनने से पहले उसे पूरे वैभव के साथ भावी पीढ़ी को सौंपना होगा। नन्हीं पीढ़ी को 'मम्मी' के 'ऑफिस' जाने के बाद 'आया' की छाया में सूचना क्रांति की खिड़की से घर में घुस आई उपभोक्तावादी अपसंस्कृति से बचाना होगा। कच्ची स्लेट पर अंकित मदारी के डमरू पर नाचते वानर-युगल, कलाबाज़ियां खाते जमूरे अथवा पतली डोर पर चलती हुई सुडौल सन्तुलित नटनी जैसे बिम्बों का अपना ही महत्व है। समय पर की गई कार्रवाई का प्रभाव समयातीत होता है।

भविष्य की महाशक्ति बनने के लिए अपने सांस्कृतिक आत्म-विश्वास को बनाए रखते हुए परम्पराओं के प्रेय को पचाकर आधुनिकता के श्रेय को रचना होगा, अतीत के बोझिल पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर नई चुनौतियों में नए अवसर खोज लेना होगा। उधार के अनुभवों से अथवा औरों के अन्धानुकरण से संस्कृति नहीं बनती। किसी समाज की संस्कृति उसके अपने ही अनुभवों की गाढ़ी कमाई है।

इन्हीं सरोकारों के साथ 'संस्कृति' का दसवां अंक आपके हाथ में है। अपने नए कलेवर में एक हज़ार प्रतियों में निकले इसके पिछले अंक को भारत और विश्व भर के हिन्दी विद्वानों, लेखकों, विदेशों में स्थित भारतीय मिशनों, भारत में स्थित विदेशी दूतावासों/उच्चायोगों, वरिष्ठ अधिकारियों, गणमान्य व्यक्तियों आदि को भेजा गया था। देश-विदेश के बौद्धिक समाज से जो प्रतिक्रियाएं एवं सहयोग मिला उसके लिए हम उनके आभारी हैं। भविष्य में भी आपका रचनात्मक सहयोग हमारा सम्बल होगा। 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' ..... इसी कामना के साथ .....

– डा० ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

संगीत दिव्य अभिव्यक्ति है

वर्ष 2004 के संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार प्रदान करने के लिए आयोजित समारोह में भाग लेते हुए मुझे खुशी हो रही है। मैं समारोह के आयोजकों, संगीतज्ञों, नर्तकों, रंगकर्मियों, लोक कलाकारों, कलाप्रेमियों व इसमें भाग लेने आये विशिष्ट अतिथियों का अभिनंदन करता हूँ। संगीत नाटक अकादमी ने अपने 53 साल पूरे कर लिए हैं। उसने संगीत, नृत्य और नाट्य कला के क्षेत्र में देश की सर्वोच्च उपलब्धि हासिल कर चुके प्रदर्शन कला के ढेरों कलाकारों, गुरूओं व अध्येताओं को सम्मानित किया है। जब मैं शास्त्रीय संगीत के बारे में सोचता हूँ तो पाता हूँ कि हरेक राग का अपना एक खास उद्देश्य व अर्थ होता है। मैं वर्ष 2004 के संगीत नाटक अकादमी रत्न व संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार प्राप्त लोगों को बधाई देता हूँ। आज मैं, 'संगीत एक दिव्य अभिव्यक्ति है' –विषय पर बोलना चाहूँगा तथा संगीत से संबंधित अपने एक निजी अनुभव से आपको वाकिफ कराना चाहूँगा।

संगीत का सम्मिलन

हाल ही में मैंने बंगलोर ज्ञान समाज के सौ साल पूरे होने के उपलक्ष्य में आयोजित एक समारोह में भाग लिया था। इस मौके पर उन्होंने हिन्दुस्तानी शैली के तीन कलाकारों –गायिका डॉ. गंगूबाई हंगल (93 वर्ष), कर्नाटक शैली के गायक डॉ. आर. के. श्रीकांत तथा मृदंगम विद्वान श्री वेल्लोर रमाभद्रन को शताब्दी पुरस्कार से सम्मानित किया था। समारोह में वायलिन उस्ताद डॉ. एल. सुब्रमण्यम द्वारा एक कार्यक्रम पेश किया गया था जिसकी संगति एक युवा वायलिन वादक के अलावा मृदंगम, घटम्, कंजीरा व मोरसेंग के उस्तादों ने की।

संगीत शुरू करने से पहले कलाकारों ने उस सर्वशक्तिमान को स्मरण करने के साथ–साथ श्रोताओं का अभिवादन किया। गायन की

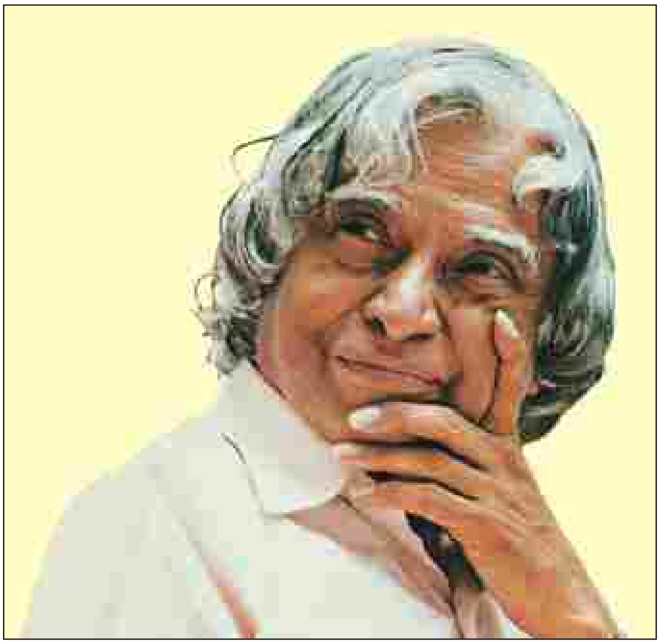

शुरूआत आदि ताल में निबद्ध हंस ध्वनि राग में मुत्तुस्वामी दीक्षितर विरचित संगीत रचना 'वातापी गणपतिम् भजे' से हुई। एल. सुब्रमण्यम् ने वायलिन का एकल वादन प्रस्तुत किया और उसके बाद उन्होंने स्वरम् पृष्ठभूमि में वायलिन, मृदंगम्, मोरसेंग व कंजीरे के कलाकारों की संगति में बारी–बारी से वायलिन वादन प्रस्तुत किया। जिस ढंग से डॉ सुब्रमण्यम् प्रत्येक कलाकार की श्रेष्ठतम प्रतिभा को उभार पाने में सफल रहे वह निश्चय ही एक अद्भुत दृश्य था। हरेक कलाकार अपने सर्वोत्तम संगीत को लेकर उभर रहा था तथा श्रोता उनकी प्रस्तुतियों की भूरि–भूरि प्रशंसा कर रहे थे। लेकिन श्रेष्ठतम क्षण अभी नहीं आया था। अपनी आखिरी प्रस्तुति में जब सभी कलाकारों ने वायलिन वादन को संगीत–धारा के मध्य में रखते हुए समवेत रूप से अपनी संगीत कला का प्रदर्शन किया तो उसकी उत्ताल लहरों में डूब कर वहाँ उपस्थित समस्त श्रोतागण झूम उठे।

(26 अगस्त 2005 को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार वितरण समारोह में महामहिम राष्ट्रपति जी द्वारा अंग्रेजी मे दिए गए अभिभाषण का अनुवाद)

वास्तव में वह एक ऐसा दृश्य था जिसमें मानों संगीत की कई नदियाँ लय और ताल में बहती हुई संगीत के एक बड़े दिव्य सागर में जाकर समाहित हो रही थीं। बीस मिनट की उस सामूहिक प्रस्तुति ने श्रोताओं को एक अनिर्वचनीय सुख से सराबोर कर दिया। उपस्थित श्रोताओं ने कलाकारों के हृदय और मन की गहराइयों से फूटी उस संगीत-प्रस्तुति का खड़े होकर करतल ध्वनि से अभिनंदन किया। दरअसल लयात्मक दिव्य संगीत के ये पल हम सब में उदात्तता भर देते हैं। संगीत एक साथ हजारों लोगों के मन के बांधों को तोड़ कर उनमें शांति व खुशियाँ भर देता है। दोस्तो, जब मैं आप को उसी परंपरा से जुड़ा पाता हूँ तो मेरा मन आप सबके लिए अभिवादन से भर उठता है।

सौजन्य : संगीत नाटक अकादमी

किशोरी अमोनकर

प्रतिभा की खोज और उसका प्रोत्साहन

संगीत, नृत्य और नाट्य कला को बढ़ावा देने के लिए देश में कई संगठन, जैसे- भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, संगीत नाटक अकादमी आदि बने हुए हैं तथा राज्यों में उसी किस्म की कई संस्थाएँ जैसे - कलाक्षेत्र, संगीत अकादमी तथा कई नाट्य व संगीत संस्थाओं के निजी प्रयास मौजूद हैं। देश के कोने-कोने से श्रेष्ठ प्रतिभाओं को सामने लाना आवश्यक है। संगीत नाटक अकादमी में संगीत, नृत्य और नाट्यकला के क्षेत्र में प्रतिभाओं की खोज करने, सर्वश्रेष्ठ कलाकारों को प्रोत्साहित करने तथा उन्हें उत्सव आदि में भाग लेने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से अलग-अलग क्षेत्रों के लिए विशेषज्ञ दल गठित किए जा सकते हैं। लक्ष्य दरअसल बड़ी संख्या में लोगों, खासतौर पर युवाओं तक पहुँचना होना चाहिए जिससे कि हमारी प्राचीन संस्कृति को संरक्षित-संपोषित किया जा सके तथा उसे उसकी पूरी समृद्धि के साथ भावी पीढ़ी को सौंपा जा सके।

सौजन्य : संगीत नाटक अकादमी

डॉ. बालमुरली कृष्ण

संगीत एकसूत्र में बाँधता है

पुरंदरदास और सदाशिव ब्रह्मेंद्र की अलौकिक रचनाएँ हजारों लोगों की चेतना को आज भी ऊंचा उठा देती हैं। जब हम बालमुरली कृष्ण को 'चेत: श्रीरामम्' गाते हुए या फिर उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ की शहनाई की धुन या पं. शिवकुमार शर्मा के संतूर-वादन पर राग यमन सुनते हैं तो हमारे अंदर जो खुशी की लहर दौड़ती है और जो ऊँचे विचार पैदा होते हैं, वे शब्दातीत हैं उन्हें सिर्फ अनुभूत किया जा सकता है, महसूस किया जा सकता है। इसी प्रकार जब हम किशोरी अमोनकर को ''नैननु नीर बहे'' गाते हुए अथवा 'भोजपुरी' की कोई नृत्य नाटिका, अथवा पापनाशनम् शिवन का 'अम्बा मनम् कनिंधू' सुनते हैं, तो बेशक हम उसके बोल न भी समझते हों तब भी हमें उसकी लय ही अपने में बाँध लेती है।

नाट्यकला और रंगमंच

नाट्य कला जनमानस को अनुप्राणित करने वाली और मनोरंजन का एक बड़ा साधन रही है। यह बच्चों और बड़ों को संदेश देने तथा उनके मन में बेहतरीन कल्पनाशील विचारों को बैठाने का सशक्त माध्यम बन सकती है। जब मैं स्कूल में था तो उस समय मैंने स्कूल के अंदर तथा बाहर मंचित किए गये कई नाटक देखे थे। कला का यह रूप आज सिनेमा, टेलीविजन व मल्टीमीडिया के अत्यधिक दबाव में है जिनकी अपनी एक अलग ही भूमिका है, पर हमें अपने प्राचीन नाट्य रूपों एवं उनके साथ जुड़ी हुई समद्ध परंपरागत कथाओं को पुनर्जीवित करने की जरुरत है।

इस कला के देशज रंगमंच के बारे में मैं अपने निजी अनुभवों को बताना चाहूँगा। 1985 से 1995 की अवधि के दौरान मैं अक्सर ही भुवनेश्वर से उड़ीसा के बालासोर जिले में चाँदीपुर तक सड़क मार्ग से जाया करता था। भुवनेश्वर हवाई अड्डे से यह पाँच घंटे की दूरी पर स्थित है। इस यात्रा के दौरान मुझे रात के समय उड़ीसा के कम से कम पाँच जिलों के कई गाँवों को पार करना पड़ता था। नवरात्रि के दौरान मुझे पूरे रास्ते देवी दुर्गा की अलग-अलग जगहों की प्रतिमाओं के सामने ग्रामीण कलाकारों द्वारा नाचने, गाने और नाटक खेलने के सुंदर दृश्य दीखते थे। उस समय वह उस इलाके के लोगों का आपस में मिलने-जुलने का न सिर्फ एक बहुत बड़ा आनंददायक संगीतात्मक मौका होता था बल्कि उससे बड़ी संख्या में स्थानीय प्रतिभाएँ भी उभर कर सामने आती थीं। संगीत नाटक अकादमी जैसी संस्थाओं को इस प्रकार के आयोजनों को बढ़ावा देना चाहिए तथा उनके महत्व को समझना चाहिए।

युवा कलाकारों को बढ़ावा

पहले मैंने शास्त्रीय नृत्य, संगीत व नाट्यकलाओं को आम जनता तक पहुँचाने के बारे में कुछ बातें कही। पर एक और भी महत्वपूर्ण समस्या है जिसका हल शीघ्र ढूँढ़े जाने की आवश्यकता है। हमारे मुल्क में, खास तौर पर छोटे शहरों व गाँवों में अनेक युवा कलाकार मौजूद हैं। उनके समक्ष ढेरों बाधाएँ हैं। संगीत नाटक अकादमी को शीघ्र ही उस ओर ध्यान देना चाहिए। अन्यथा ऐसे कई बेहतरीन युवा कलाकार जिनके पास आगे बढ़ने के लिए कोई संरक्षण नहीं है, शायद ही कभी कला को व्यवसाय के तौर पर अपना सकें। यदि अलग-अलग क्षेत्रों से प्रतिभावान युवा कलाकारों को कला के क्षेत्र में आने के लिए सुविधाएँ दी जायें तो भारतीय कला-रूपों की समृद्धि व विविधता को आवश्यक बल प्राप्त होगा।

राष्ट्रपति भवन का अनुभव

भारत की सांस्कृतिक विरासत को नमन करने तथा प्रदर्शन कलाओं के काय्रक्रमों के आयोजन के लिए ''इंद्रधनुष'' के तहत सांस्कृतिक कार्यक्रमों की एक श्रृंखला का आयोजन किया गया। 'इंद्रधनुष' का उद्देश्य सुविख्यात कलाकारों के साथ-साथ

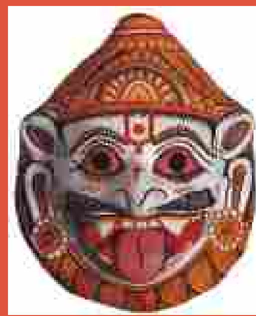

“अनुभवों ने मुझे यह सोचने पर विवश किया है कि क्या संगीत और नृत्य को विश्व शांति के लिए एक साधन के रुप में इस्तेमाल किया जा सकता है तथा क्या वह दिलों को जोड़ने वाली ताकत बन सकता है सौभाग्यवश, हमारे पास पाँच हजार साल से भी अधिक के साहित्य, संगीत, नृत्य व नाटक की एक समृद्ध सभ्यतात्मक विरासत मौजूद है।”

नवोदित युवाओं को भी मान्यता दिलाना है। अभी तक हमने ऐसे अट्ठारह कार्यक्रम आयोजित किये हैं। इसकी शुरूआत पं.जसराज के कार्यक्रम से हुई थी। उन्होंने कई भक्ति गीतों के साथ-साथ 'गोविंद दामोदर' और 'मेरो अल्लाह मेहरबान' का भी गायन किया था। इसके अलावा महान् बाँसुरीवादक पं. हरिप्रसाद चौरसिया, रूद्रवीणा वादक असद अली खान, सरस्वती वीणा वादक ई. गायत्री तथा सोनल मानसिंह द्वारा ओडिसी नृत्य की उत्कृष्ट प्रस्तुति की गई थी। हाल ही में, श्री जगजीत सिंह की एक गज़ल प्रस्तुति का भी एक आयोजन किया गया था। नादस्वरम् के दो विद्धानों, शेख महबूब सुभानी एवं श्रीमती सुभानी के साथ हुए अपने अनुभवों को मैं आपके साथ बाँटना चाहूँगा। उन्होंने राष्ट्रपति भवन में श्रोताओं के सामने एक सुंदर नादस्वरम् गायन प्रस्तुत किया था। गायन की समाप्ति के बाद मैंने उन दंपत्ति से भिन्न क्षमता वाले बच्चों के लिए उन्हें जब भी मौका मिले, गायन प्रस्तुत करने का अनुरोध किया और उन्होंने चेन्नै में कुछ भिन्न क्षमता वाले बच्चों के सामने गायन प्रस्तुत भी किया। मैं समझता हूँ कि उससे उन विशिष्ट बच्चों को बेहद खुशी हासिल हुई होगी। यह एक बहुत ही नेक उद्देश्य है। मैं यहाँ एकत्रित सभी कलाकारों से इस उदाहरण का अनुसरण करने का अनुरोध करूँगा। जब भी मौका मिले उन्हें भिन्न क्षमता बाले बच्चों को प्रसन्न करने के लिए ऐसा अवश्य करना चाहिए।

इसके अलावा, हमने बाल कलाकारों के लिए अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए, जिसमें एक आठ वर्षीय बालक चिरंजीव सिद्धार्थ नागराजन ने ड्रम, सोलह वर्षीय एल. अथिर ने वायलिन तथा श्रीदेवी नृत्यालय, चेन्नै के बच्चों ने बाल रामायण नृत्य नाटिका की प्रस्तुति की। आइये हम कला और संस्कृति के क्षेत्र में अपने बच्चों व युवाओं को भागीदारी करने के लिए प्रोत्साहित करें तथा उनकी क्षमताओं को दुनियाँ के सामने उभारें ताकि देश के अन्य बच्चों को अपनी कलाओं के क्षेत्र में बेहतर प्रदर्शन के लिए प्रेरणा प्राप्त हो तथा देश सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने एवं सामाजिक सौहार्द्र कायम रखने में सक्षम बने।

निष्कर्ष : वैचारिक एकता के लिए संगीत, नृत्य, नाटक

मुझे संगीत, नृत्य एवं नाटक के महान् कलाकारों की प्रस्तुतियों को देखने का अवसर मिला। उनको सुनने और देखने के अनुभवों ने मुझे यह सोचने पर विवश किया है कि क्या संगीत और नृत्य को विश्व शांति के लिए एक साधन के रुप में इस्तेमाल किया जा सकता है तथा क्या वह दिलों को जोड़ने वाली ताकत बन सकता है? सौभाग्यवश, हमारे पास पाँच हजार साल से भी अधिक के साहित्य, संगीत, नृत्य व नाटक की एक समृद्ध सभ्यतात्मक विरासत मौजूद है।

संगीत और नृत्य आपको एक अलग ही लोक में ले जाता है जहाँ वह आपको खुशी प्रदान करता है। मेरा मानना है कि इस प्रकार का संगीत और नृत्य तभी प्रस्फुटित होता है जब कलाकार खुद शांत और प्रसन्नचित हो। और उस दशा में वे समाज में शांति और खुशहाली फैलाने वाले बनेंगे।

सामान्यतया भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रदर्शन के चरम बिन्दु स्पर्श के लिए कम से कम एक घंटे के समय की दरकार होती है। युवाओं की कल्पना शक्ति को आकृष्ट करने के लिए एक-एक मिनट के विशेष बुलेटिनों के रूप में टी. वी. विज्ञापनों के माध्यम से इस तरह के चरम बिन्दु की संगीतात्मक प्रस्तुतियों की झलकियों के द्वारा हमें युवाओं को आकर्षित करना चाहिए।

जब ये पुरस्कार दिये जा रहे हैं तो मेरा मानना है कि इनके माध्यम से हम अनुभवी कलाकारों के प्रदर्शन की सराहना कर रहे हैं, उन्हें मान्यता दे रहे हैं। लेकिन इसके अलावा भी हमें दूर-दराज के इलाकों सहित देश के अलग-अलग भागों के उभरते कलाकारों की भी सराहना करनी होगी, उन्हें आगे बढ़ाना होगा। 20 साल से कम वयस के युवा कलाकारों के लिए कम से कम 10 पुरस्कार शुरू किए जा सकते हैं। मेरा सुझाव है कि ग्रामीण क्षेत्रों का दौरा करके कलाकारों की खोज के लिए एक विशेष दल की नियुक्ति की जानी चाहिए।

मैं संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार पाने वालों को एक बार पुनः बधाई देता हूँ। राष्ट्र के युवाओं में हमारे पारंपरिक प्रदर्शन कलारूपों के संरक्षण, संपोषण व संवर्धन के मिशन में कार्यरत संगीत नाटक अकादमी के सभी सदस्यों को मेरी शुभकामनाएं।

ईश्वर आपको सुखी रखे।

अनुवाद - सम्पादक

– शीला गुजराल

आधुनिक भारत : परम्परा और भविष्य

मैं परम्परा में विश्वास रखती हूँ, लेकिन दकियानूसी में नहीं। परम्परा और आधुनिकता के संयोजन से ही किसी देश का सही रूप में विकास हो सकता है।

हमारी प्राचीन सभ्यता की महिमा संसार भर में फैली हुई थी। सोने की चिड़िया कहलाने वाला हमारा देश सभी को आकर्षित करता था। प्रारंभिक-काल में पार्थियनों, शकों हूणों का-तरह-तरह की टोलियों का-भारत में आगमन हुआ, लेकिन विदेशियों और स्थानीय जन साधारण के बीच धर्म को लेकर झगड़े-फसाद तथा लड़ाइयाँ नहीं हुईं। भारत में हिन्दू धर्म का ढाँचा इतना लचीला था कि कोई भी आकर उसमें समाविष्ट हो सकता था। हिन्दू मानस बहुलतावादी और विचार सहिष्णु रहा है। एक हिन्दू अपने ईष्ट की पूजा गिरिजाघर, मस्जिद, गुरुद्वारे या अपने ही घर पर बैठ कर भी कर सकता है। हिन्दू धर्म ही केवल ऐसा धर्म है, जहाँ मन्दिर में जाना अनिवार्य नहीं। सदियों तक हिन्दू धर्म अपने आदि स्वरूप को बनाए रखते हुए भी कालान्तर में जन्मी अवधारणाओं को अपने में समाहित करता रहा, जिसके फलस्वरूप सगुण, निर्गुण, द्वैत, अद्वैत, शैव, वैष्णव, आस्तिकता, नास्तिकता, अध्यात्मिकता, भौतिकता सभी तरह के सिद्धांत साथ में जुड़ते गए।

दक्षिण भारत अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण समय-समय पर हुए विदेशी आक्रमणों से बचा रहा और वहाँ के निवासियों का जन-जीवन, साहित्य कला, रहन-सहन लम्बे अरसे तक अछूता रहा। उत्तर भारत में आठवीं शताब्दी में पहले तो इस्लाम धर्म के कुछ लोगों की दो-तीन टोलियाँ केवल लूट-मार करने आईं, लेकिन जब उन्होंने इस्लाम की सर्वोच्च सत्ता हासिल करने की चेष्टा की तो यहाँ तूफान खड़ा हो गया। धीरे-धीरे जब धार्मिक कट्टरता से छुटकारा पा सांस्कृतिक-सामाजिक स्तर पर जन-जीवन घुलमिल गया तो हिन्दू-मुसलमान के बीच भाईचारा बढ़ा। एक दूसरे के तीज-त्यौहारों में, दुख-सुख में हिस्सा लेना शुरू किया। स्थापत्य, शिल्प, नृत्य, गायन, साहित्य, चिंतन और कला के सभी क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर दोनों संप्रदायों की संस्कृति ने एक दूसरे पर प्रभाव डाला। सैकड़ों हिन्दू मुसलमान पीरों को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। इसी तरह सैकड़ों मुसलमान कवियों ने हिन्दू देवी-देवताओं की स्तुति में रचनाएँ कीं। अमीर खुसरो से जिस सांस्कृतिक समन्वय की परम्परा शुरू हुई, वह आज भी जीवित है।

इतिहास में मुस्लिम-काल का अध्ययन करें तो देखेंगे कि बादशाह बेशक मुसलमान थे, लेकिन सरकार के उच्च अधिकारी, फौज के विशिष्ट सैनिक पदाधिकारी, दरबार के नव नूतन कवि, गायक, चित्रकार इत्यादि मिले-जुले थे। देश को आज़ाद करवाने में भी

नक्काशी, बीबी का मकबरा, औरंगाबाद

दोनों वर्गों ने सांझा हाथ बंटाया।

जन-साधारण के इस आपसी लगाव को भारत के लम्बे इतिहास में पुरोहित और मौलवी अपनी सत्ता के रास्ते में अक्सर बाधक समझते थे और भोली जनता को भड़काने का प्रयत्न करते रहे। धर्म-कर्म जटिल बनाकर इस संकुचित वर्ग ने जब भी जन-जीवन का दमन करने की कोशिश की, किसी न किसी नये आन्दोलन ने जन्म लिया। भक्तिवाद, सिख संप्रदाय, बौद्धों का अवतरण, मिशनरियों द्वारा धर्म परिवर्तन के यत्न- सभी जन जागरण के प्रतीक रहे हैं।

समय-समय पर धर्म के ठेकेदारों ने जन-साधारण को अपनी मुट्ठी में दबोचने के लिए कई तरह के हथियार इस्तेमाल किये। भूत और चुड़ैल इत्यादि तरह-तरह के अन्धविश्वासों से भोली जनता को भरमाया और उपाय हेतु मिथ्या कहानियाँ बना उन्हें लूटने के साधन ढूँढे। महिलाओं के दमन में तो उनका विशेष योगदान रहा। सामाजिक कुरीतियाँ दूर करने के लिए कई समाज-सुधारकों ने डटकर आन्दोलन चलाए। उसी के फलस्वरूप विधवा-विवाह, सती-प्रथा इत्यादि के विरुद्ध कानून तैयार हुए।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों को ऐसी चतुराई से भड़काना शुरू किया कि अलगाववादी प्रवृत्तियाँ तीव्रता से बढ़ने लगीं। इसी के फलस्वरूप दो राष्ट्र के सिद्धांत पर भारत का विभाजन हुआ।

विभाजन के पश्चात पाकिस्तान का सरकारी ढाँचा तो इस्लाम धर्म की बुनियाद पर बना, लेकिन हमारे नेताओं की सूझबूझ से भारत का संविधान धर्म निरपेक्षता के आधार पर घोषित किया गया। देश में सर्वांगीण विकास के लिए सुनियोजित आर्थिक, सामाजिक योजनाएँ बनीं और लागू भी की गईं। दुर्भाग्यवश धर्म के ठेकेदारों ने अपने स्वार्थ के लिए पुन: धार्मिक दरारें डालनी शुरू कीं।

हिन्दू-सिख जिनमें काफी संख्या एक ही माँ के जाये सगे भाई-बहिनों की थी, एक दूसरे के खून के प्यासे हो गए। इसी तरह बाबरी मस्जिद के ध्वंस जैसी भीषण घटनाओं ने हमारे देश के धर्मनिरपेक्ष ढाँचे की नींव हिला दी। इसके फलस्वरूप हम अपनी दूसरी समस्याओं- जैसे बढ़ती हुई जनसंख्या का नियंत्रण आदि बातों पर ध्यान न दे सके। साथ ही आर्थिक विकास की रफ्तार इतनी धीमी रही कि गरीबी की दलदल से हम उभर न सके। शिक्षा की गति भी इतनी मंद रही कि आज़ादी के 55 वर्ष पश्चात् भी हम शिक्षा का प्रकाश घर-घर तक पहुँचा नहीं पाए।

आज हमारे अर्ध-विकसित देश में इतने बड़े-बड़े कारखाने, इतने कुशल कारीगर, ऐसे दक्ष इंजीनियर, डॉक्टर, विशेषज्ञ देख दुनिया आश्चर्यचकित रह जाती है। महानगरों का लिपा-पुता चेहरा, सुख-सुविधा के सभी साधनों की भरमार, कंप्यूटर के अवतरण ने सभी काम कितने आसान बना दिए हैं। आज के बड़े-बड़े दफ्तरों में जहाँ पहले कर्मचारियों की भीड़ रहा करती थी, अब वही काम चंद चुस्त-दुरुस्त युवक-युवतियाँ फुर्ती से निपटा देते हैं। एक वर्ग जहाँ ऐश्वर्य के झूले में झूलता अपनी सत्ता का ध्वज फहरा रहा है, वहीं दूसरी ओर 30 प्रतिशत से भी अधिक जनता नारकीय जीवन जीती हुई दो जून के भोजन तक के लिए तरस रही है। मध्यवर्ग, जिसके प्रचारित आंकड़ों पर हमें इतना अभिमान है, वह भी आधुनिकता और पिछड़ेपन की कशमकश में त्रिशंकु की तरह लटक रहा है। बढ़ती हुई महंगाई की मार, ऊपर से समाचारपत्रों और टी.वी. पर दर्शाये विज्ञापनों से परिवारों में बढ़ती नित नई माँग। केवल यही नहीं, परम्परागत दहेज-प्रथा जो केवल नव-विवाहित दम्पति की सुविधा के लिए यथा-शक्ति कुछेक उपहार स्वरूप दी जाती थी, अब बढ़ती हुई लालसा और हिंसा का रूप ले चुकी है। कामकाजी सर्वगुण-सम्पन्न लड़कियाँ आर्थिक क्षमता रखते हुए भी दहेज के चंगुल से नहीं बच पातीं।

कंप्यूटर के करिश्मे से काम तो फुर्ती से निपट रहा है, पर नौकरी से विमुक्त हुए व्यक्तियों के लिए हम जीविका के अन्य साधन नहीं जुटा पाये। बेरोज़गारी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उसी के अनुपात में चोरी, डकैती, रिश्वतखोरी, नशे की प्रवृत्ति और बलात्कार की घटनाएँ भी बढ़ रही हैं।

हमारे वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर जो विदेशों में जाकर अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखा रहे हैं, उनका अपने देश में सदुपयोग नहीं हो पाता। विदेश में यश अर्जित करने के बाद तो 'मल्टीनेशनल' कम्पनियों में उन्हें वापस आने पर मान्यता मिलती है, पर शिक्षा समाप्ति पर केवल बेकारी का सामना ही करना पड़ता है।

हरित-क्रान्ति की लहर जो हमारे गाँवों-कस्बों में खुशहाली का संदेश लेकर आई थी, वह भी दिन प्रतिदिन धूमिल हो रही है। प्रकृति के साथ अन्याय कर हमने पेड़ों को बेरहमी से काटा, भरपूर फसल की लालसा रखते हुए हमने धरती को खोखला कर डाला। कृत्रिम खाद से धरा की उर्वरा-शक्ति क्षीण हो गई। ट्रैक्टर मशीनों से काम तो सरल हुआ, लेकिन बेरोजगारों के लिए रोजगार के नये साधन हम नहीं जुटा पाए। हमारे किसान जिन्होंने कैलिफोर्निया में जाकर अपने हाथों का चमत्कार दिखा दिये, आज बेकार भटकते हुए नशे में धुत रहते हैं।

देश की अधिकांश जनता को साक्षर बनाने का वचन तो हम निभा नहीं पाए, पर शिक्षा का ढांचा कमजोर होने के कारण शिक्षित वर्ग को भी किसी व्यवसाय के लिए तैयार नहीं कर पाए और न ही उनमें सोचने की क्षमता विकसित कर पाये। अपने खानदानी पेशे को नवयुवक क्योंकि नीची नज़र से देखने लगे और थोड़ा बहुत साक्षर होने पर अपने-आप को बाबू साहब समझ, बेकार बैठे दुष्कर्मों की दलदल में धंसते हुए अपनी बर्बादी और समाज के लिए कलंक बनते गए। पश्चिमी सभ्यता के गुण तो ग्रहण न कर पाये, पर अवगुण उन्होंने अवश्य अपना लिए।

भारत के लम्बे इतिहास में विपरीत स्थितियाँ कई बार आईं। भारत के सशक्त ढांचे में कभी जंग नहीं लगा। जन-चेतना की दबी लहर धीमे-धीमे उभरती हुई हर बार नव-उत्थान लाई।

पिछले चंद वर्षों से कागज़ी कार्यवाई पर पिछड़े वर्ग के लिए, महिलाओं और बच्चों के लिए कई योजनाएं चल रही हैं। बजट में पर्याप्त धनराशि भी उनके लिए आरक्षित की जाती हैं, पर जन-चेतना के अभाव में बहुत थोड़ा अंश सही स्थान पर पहुँच पाता है। कुछ एक जागरुक जो रिश्वतखोरी एवं सत्ता के दुरुपयोग के बारे में जो आवाजें उठाते भी हैं, उनकी आवाज़ कुचल दी जाती है। प्रतिकूल वातावरण में भी कई उत्साही समाज-सेवक अपने अपने लक्ष्य पर डटे रहकर तन-मन-धन सभी कुछ न्योछावर करने को तैयार अपने काम में जुट हुए हैं, पर वह तो अभी तक मानों हाथी के शरीर पर तिल के बराबर है।

सौभाग्यवश, संचार माध्यम विशेषकर टी.वी. के कई चैनल तैयार होने पर आम जनता में नव-चेतना जागी है। नई पीढ़ी के अनेक युवक-युवतियों ने समाज-सुधार के लिए अनेक युक्तियाँ सोचीं और अपने-अपने क्षेत्र को 'धर्मयुद्ध' की निष्ठा की तरह अपनाया है। रासायनिक औषधियों का दुष्प्रभाव देख हमारे चिकित्सकों ने पुरानी जड़ी-बूटियों का वैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान कर, दूसरे विकल्पों को भी जगह दी है। ऐसी औषधियों को अपना कर 'ऐलोपेथिक' दवाईयों के साथ उन्हें भी प्रयोग में लाना शुरू कर दिया है।

अभी तक चंद एक समाज सेवक ही देश के उत्थान के कार्य में जुटे हुए थे, उसी के फलस्वरूप सरकारी योजनाओं में कुछ वृद्धि हो रही थी, पर ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन में जन-चेतना उभरी, हर राज्य में शहरी और देहाती दोनों क्षेत्रों में स्वयंसेवी संस्थाओं ने जन्म लिया। महिलाओं में अपने अधिकार और कर्तव्यों के प्रति ज्यों-ज्यों जानकारी बढ़ी, महत्वपूर्ण सुधार होने शुरू हुए। शुरू-शुरू में तो पंचायत की मुखिया बनने पर महिलाओं का योगदान केवल अंगूठा लगाने तक ही सीमित था। साक्षरता और अपने कर्तव्यों और अधिकारों की जानकारी से महिलाओं में आत्मविश्वास बढ़ा। विश्व-स्तर की जानकारी बढ़ने पर न केवल महिलाओं में विचार-विमर्श की योग्यता को बढ़ावा मिला, यूनेस्को, यूनीसेफ-जैसी संस्थाओं द्वारा भी पर्याप्त योगदान मिला। बरसों से सेवा में कार्यरत स्वयंसेवकों के परिश्रम से कुछ अंकुर फूटते दिखाई देने लगे। बरसों से बालकों के प्रति अन्याय, गरीबी, भूख एवं पौष्टिक भोजन की कमी, साक्षरता का अभाव इत्यादि ऐसी समस्याएँ, जिन पर कोई नियंत्रण नहीं था, इन सब पर गम्भीरता से विचार किया जा रहा है।

आपसी फूट के कारण हमने अपनी प्राचीन सभ्यता की अमूल्य विरासत को सहेज कर रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया। हमारे ऐतिहासिक, धार्मिक स्थल समय की चपेट में आकर खंडहर बनते जा रहे थे। हमारे अनेक प्राचीन ग्रंथ हमारी उपेक्षा के कारण कुछ तो दीमकों ने चाट दिए और कुछ विदेशियों द्वारा हमारे संग्रहालयों से गायब कर लिए गए। हम तो आपस में होड़ लगाते नित नए मन्दिर, गुरुद्वारे और मस्जिदें खड़ी करने में ही जुटे रहे। हाल ही में इस विषय पर गंभीर विचार-विमर्श शुरू हुआ है। ऐतिहासिक तथा धार्मिक इमारतों की मरम्मत कर, पास बहते नदी-नालियों की गन्दगी हटा, देश-विदेश से आए पर्यटकों को आकर्षित कर हम न केवल अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए अमूल्य विरासत छोड़ सकते हैं, बल्कि देश में भी आर्थिक सम्पन्नता लाने की दिशा में भी विशेष रूप से सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

हमारा साहित्य, कला, संगीत, हस्तकलाएँ तथा लोक-गाथाएँ जो अब तक पश्चिमी प्रभाव से हम से दूर होती जा रहीं थीं, अब धीरे-धीरे हमारे बुद्धिजीवियों और विचारकों ने इन्हें पुनः अपनी परम्परागत धुरी पर वापस ला, नई पद्धतियों को उसमें जोड़ा है, जिससे इस दिशा में नव शक्ति के संचार के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आज हमने महसूस किया है कि रचनाकार को अपने काल को ही प्रतिबिंबित करना नहीं होता, वरन् अपने समय की शक्ति का परिमाप भी देना होता है। देश-विदेश के सभी रचनाकारों को समाज उत्थान के लिए, नव-गति के लिए सांझा प्रयास करना है। हमारे विचारशील लेखक डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में ''परिवर्तन लहरों से नहीं होता, परिवर्तन भीतरी आवश्यकता से होता है'' और आज हमने महसूस किया कि हमारे वर्तमान काल की यही माँग है।

प्रसन्नता की बात यह है कि यह प्रयास केवल एक धर्म या एक वर्ग के समाज-सेवकों तक ही सीमित नहीं, बल्कि सभी धर्मो और वर्गों के स्वयंसेवक इस काम में जुटे हुए हैं। गुजरात में जहाँ 'बेस्ट बेकरी' जैसी दर्दनाक घटनाओं ने हम सब के शीश शर्म से झुका दिए हैं, उसी राज्य के एक देहाती इलाके, बैलूकांड, में कंप्यूटर के प्रयोग से ऐसा चमत्कार दिखाया कि पूरे गाँव के 2000 परिवारों की ज़मीन, खेतीबाड़ी, जन्म तथा मृत्यु का पूरा ब्यौरा डिस्क पर तैयार कर लिया। अब वे किसी भी अवसरवादी नेता के षडयंत्र के शिकार नहीं बनेंगे। इसी तरह देश के हर राज्य में जागृति की लहर थोड़ी बहुत उभर रही है। बिहार- जैसे सबसे पिछड़े राज्य में आशाजनक परिवर्तन दिख रहे हैं। पटना से 110 किलोमीटर दूरी पर पूर्वीय चम्पारन इलाके में लोगों की अमानवीय दशा का वर्णन सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मुसहर जन-जाति के दलित 425 गाँव में पशुओं से भी बुरा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। शोध एवं विकास केन्द्र ने पिछले कुछ वर्षों से जिस लगन से काम किया, उसके फलस्वरूप आशा की लौ अब स्पष्ट दिखाई दे रही है। जनवरी 2001 में जिला मुख्य कार्यालय से लगभग 50 मील दूरी पर स्थित डैल्टो गाँव, जहाँ के सभी परिवार कई पुश्तों से 'बलशालियों' के शिकंजे में थे, चुपके से गाँव से भागकर इस संस्था को अपनी दुर्दशा बताने पहुँचे। अन्य ऐसे सभी गाँव भी ऐसी ही दशा में थे। पिछले तीन वर्षो के निरन्तर प्रयास से अब वहां सुधार के कुछ लक्षण उभरे हैं। पिछले 15 महीनों से 'ऐक्शन कमेटी' के सहयोग से यू. के. की जी-एफ आई. डी. फाउंडेशन से मिली आर्थिक सहायता से इस जाति के माथे से 'डकैत' होने का मिथ्या कलंक छुड़वा, इन्हें इन्सानियत के हक और सुविधाएँ दिलाने का भरसक प्रयत्न कर रही है।

इसी तरह बिहार के एक अन्य इलाके मुजफ्फरपुर के एक छोटे से गाँव में 30,000 निष्ठावान हिन्दू-मुस्लिम यहाँ तक कि कुछ डकैत भी हृदय परिवर्तन के बाद गाँव सुधार की महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। मैसूर में 'इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ रूरेल मैनेजमैंट' की ओर से एक जिला पंचायत ने वेणुगोपाल योजना के तहत दो स्कूलों के अहातों में 'सी-सॉ' और झूलों की व्यवस्था की है और स्कूलों में पढ़ाई के साथ-साथ खेलकूद को प्रोत्साहित कर बच्चों की पढ़ाई की तरफ दिलचस्पी बढ़ाई है।

बालकों के लिए 'बचपन बचाओ' आन्दोलन जोरों से चल रहा है। शहरों में लावारिस बच्चों के लिए कई संस्थाएं कार्य कर रही हैं। बच्चों और कामकाजी महिलाओं की सुविधा के लिए 'मोबाईल क्रेचेज़' कामकाजी महिलाओं के लिए आवास और वृद्ध-आश्रम भी जगह जगह बनाए जा रहे हैं।

हमारे साहित्य-चिन्तक, हमारे दार्शनिक, हमारे वैज्ञानिक और बुद्धिजीवी मानवीयता का दृष्टिकोण अपनाते, मित्रता का वातावरण बनाने की सभी युक्तियाँ सोच रहे हैं। विश्व भर से सहयोग बढ़ा, पड़ोसियों के साथ भेद-भाव मिटा, राष्ट्रीय कोष से व्यर्थ की युद्ध सामग्री के व्यय में कटौती का वातावरण बना, वही धन साक्षरता, स्वास्थ्य और अन्य रचनात्मक कार्यों के लिए लगाने के उपाय ढूँढ़ रहे हैं।

स्थिति अभी भी चिन्ताजनक है। जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है, उस की तुलना में विकास-कार्यों, की गति बहुत धीमी है। सफलता के सोपान पर पहुँचने में अभी बहुत समय लगेगा, पर मुझे पूरी आशा है कि परम्परा और आधुनिकता के संयोजन से हमारी नई पीढ़ी और उस से आगे आने वाली पीढ़ियाँ भारत को बुलंदी पर पहुँचा मानवता का उज्ज्वल प्रकाश चारों ओर फैलाएँगी।

- शीला गुजराल
5, जनपथ, नई दिल्ली-110011

– उमेश कुमार

संस्कृति मंत्रालय द्वारा आयोजित महत्वपूर्ण समारोह

संस्कृति मंत्रालय द्वारा महत्वपूर्ण व्यक्तियों और घटनाओं के शताब्दी कार्यक्रम और समारोह आयोजित किए जाते हैं। इस प्रयोजन के लिए राष्ट्रीय समितियों के अलावा महत्वपूर्ण व्यक्तियों की वर्षगांठों तथा विशिष्ट घटनाओं को मनाने के लिए समय-समय पर मंत्री स्तरीय समितियां भी गठित की जाती हैं।

इन समारोहों के दौरान देशभर में अनेक गतिविधियां और कार्यक्रम आरंभ किए जाते हैं और अवसरों के अनुरूप विभिन्न परियोजनाओं को शुरू करने के लिए राज्य सरकारों/ संस्थानों/ स्वैच्छिक संगठनों को सहायता प्रदान की जाती है।

लाल बहादुर शास्त्री जन्म शताब्दी

लाल बहादुर शास्त्री के वर्ष भर चलने वाले जन्म-शताब्दी समारोह का उद्घाटन 2 अक्टूबर, 2004 को किया गया जिसका समापन 4 अक्टूबर, 2005 को मावलंकर ऑडिटोरियम, नई दिल्ली में माननीय प्रधानमंत्री द्वारा सिक्का जारी करने के समारोह के साथ हुआ। गत एक वर्ष के दौरान लाल बहादुर शास्त्री की स्मृति में भारत के विभिन्न भागों में अनेक सेमिनार और सम्मेलन आयोजित किए गए। 7 मई 2005 को भारत के माननीय प्रधानमंत्री द्वारा 1, मोतीलाल नेहरू मार्ग, नई दिल्ली में ''लाल बहादुर शास्त्री स्मारक'' का उदघाटन किया गया। शास्त्री जी पर शीघ्र ही एक वृत्तचित्र भी जारी किया जाएगा।

मुंशी प्रेमचंद की 125वीं वर्षगांठ

माननीय सूचना-प्रसारण एवं संस्कृति मंत्री श्री जयपाल रेड्डी ने 31 जुलाई 2005 को लमही, उत्तर प्रदेश में मुंशी प्रेमचंद की 125वीं वर्षगांठ समारोह का उद्घाटन किया। इस समारोह में उत्तर प्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री भी उपस्थित थे। 31 जुलाई 2005 को वाराणसी में एक सेमिनार तथा 1 अक्टूबर से 4 अक्टूबर 2005 तक कोलकाता में चार दिवसीय नाट्य उत्सव आयोजन किया गया। नाट्य उत्सव की अध्यक्षता पश्चिम बंगाल के माननीय मुख्यमंत्री ने की। श्रीमती नीना रंजन सचिव (संस्कृति) भी इस समारोह में उपस्थित थीं जिन्होंने सभा को संबोधित किया। इस स्मारक वर्ष में जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली में एक अभिलेखागार स्थापित करने संबंधी प्रस्ताव सहित अनेक कार्यक्रमों की योजना बनाई गई।

इस वर्ष के दौरान अनेक सेमिनार और कार्यशालाएं भी आयोजित की जाएंगी।

सज्जाद ज़हीर की शताब्दी वर्षगांठ

संस्कृति मंत्रालय ने प्रख्यात उर्दू लेखक और ''प्रगतिशील लेखक संघ'' के एक प्रवर्तक सदस्य तथा स्वतंत्रता सेनानी सज्जाद ज़हीर की शताब्दी वर्षगांठ मनाने के लिए ''प्रगतिशील लेखक संघ'' को 5 लाख रु. भी मंजूर किए हैं।

श्रीआदि ग्रंथ की संस्थापना की 400वीं वर्षगांठ

विज्ञान भवन में 30 से 31 अक्टूबर, 2005 तक श्रीआदि ग्रंथ साहिब पर 2 दिन का अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। भारत के माननीय प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह ने इस अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार का उद्घाटन किया। पाकिस्तान से भी कुछ सदस्य आमंत्रित थे, जिनमें महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में बाबा फरीद के एक वंशज भी शामिल थे। श्रीआदि ग्रंथ साहिब पर छः विश्वविद्यालयों, नामतः कोलकाता, जाधवपुर, पुणे, अमृतसर, वाराणसी और मदुरै में भी राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किए गए हैं। इसके अलावा अमृतसर में श्री हरमंदिर साहिब में आदि ग्रंथ की संस्थापना का 400वां वर्ष मनाने के लिए अनेक कार्यक्रम शुरू किए गए हैं।

– उमेश कुमार
उपसचिव (शताब्दी एवं स्मरणोत्सव प्रकोष्ठ),
संस्कृति मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली

‘‘ताजमहल’’ पर बच्चों की क़लम

ताजमहल की 350वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में संस्कृति मंत्रालय द्वारा इस वर्ष के प्रारंभ में भारत के स्कूली बच्चों के लिए अखिल भारतीय हिंदी निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया, जो दो श्रेणियों में थी। वरिष्ठ वर्ग में कक्षा 9 से 12 और कनिष्ठ वर्ग में कक्षा 6 से 8 के विद्यार्थियों ने भाग लिया। इस प्रतियोगिता के लिए भारत के कोने-कोने से लगभग 850 विद्यार्थियों ने हिंदी में ‘‘ताजमहल’’ पर दिये गए विषयों पर निबंध लिखे जिसे उन्होंने अपने-अपने विद्यालय के प्रधानाचार्य से सत्यापित करवा कर भेजा। सभी प्रविष्टियों को तीन विद्वान सदस्यों वाले निर्णायक मण्डल द्वारा जांचा गया और दोनों वर्गों के लिए अलग-अलग 5000/- रुपये के प्रथम, 3000/- रुपये के द्वितीय और

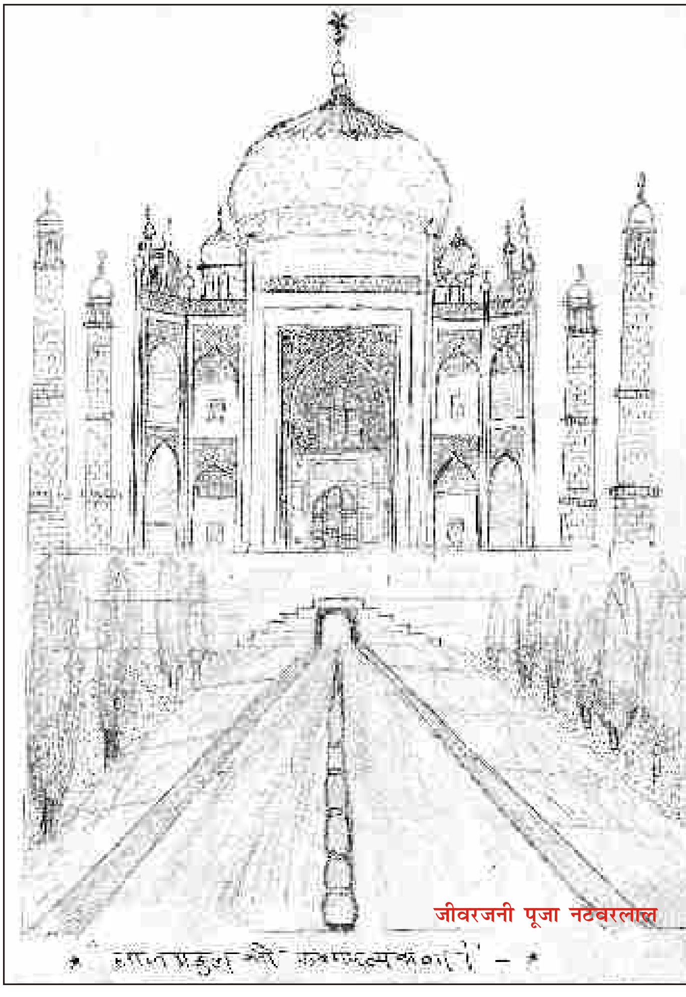
जीवरजनी पूजा नटवरलाल

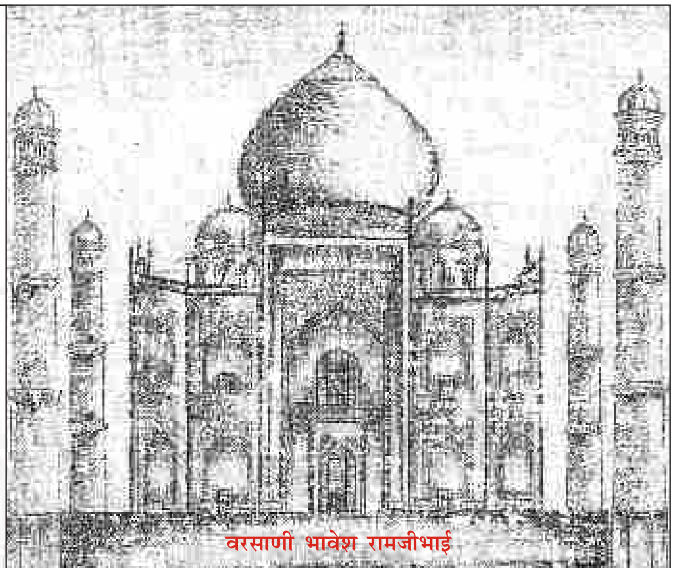
वरसाणी भावेश रामजीभाई

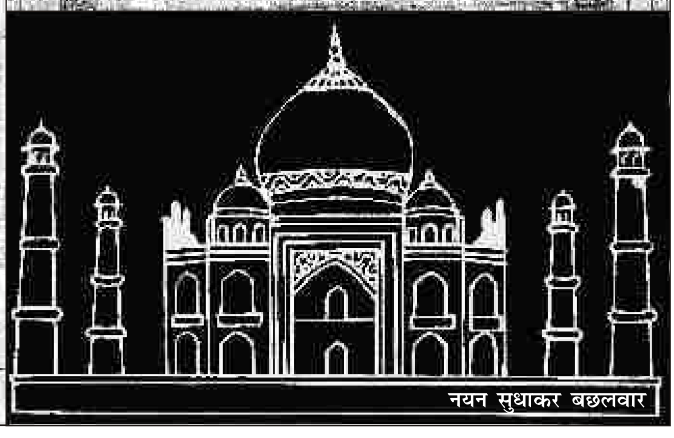
नयन सुधाकर बछलवार

1000/- रुपये के तीन-तीन सांत्वना पुरस्कारों को मिलाकर 22,000 रु. के कुल दस पुरस्कार दिए गए। ये पुरस्कार अप्रैल 2005 में प्रदान किये गये। इस प्रतियोगिता के विजेता विद्यार्थियों का विवरण इस प्रकार है :-

कनिष्ठ वर्ग

क्र. सं.	विद्यार्थी का नाम	स्कूल का नाम	विषय	राज्य	परिणाम एवं पुरस्कार की राशि
1.	अभिज्ञा	नवयुग स्कूल, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली-23	जगत का अचरज ताज	दिल्ली	प्रथम रु.5000/-
2.	वघासिया जीनियस जयसुखभाई	पी पी सावनी, विद्या भवन, हीरा बाग, वराछा रोड, सूरत-395006	जगत का अचरज ताज	गुजरात	द्वितीय रु.3000/-
3.	दिगन्त दुबे	पुलिस मॉडर्न स्कूल, बदायूँ	जगत का अचरज ताज	उत्तर प्रदेश	प्रोत्साहन रु.1000/-
4.	ज्योति यादव	जीवन-ज्योति सीनियर सेकेंडरी पब्लिक स्कूल, गुड़गांव	जब मैंने देखा ताजमहल	हरियाणा	प्रोत्साहन रु.1000/-
5.	सायली सुनील औंधकर	कन्या विद्यालय पेठ, ता. वालवा, जि.-सांगली, महाराष्ट्र	जगत का अचरज ताज	महाराष्ट्र	प्रोत्साहन रु.1000/-

वरिष्ठ वर्ग

क्र. सं.	विद्यार्थी का नाम	स्कूल का नाम	विषय	राज्य	परिणाम एवं पुरस्कार की राशि
1.	कु. भानू सिंह	राधाबल्ल्भ इंटर कालेज, शाहगंज आगरा	मेरी नजर में ताज	उत्तर प्रदेश	प्रथम रु.5000/-
2.	जीवरजनी पूजा नटवरलाल	आई पी मिशन गर्ल्स हाई स्कूल, राजकोट	ताजमहल की स्थापत्य कला	गुजरात	द्वितीय रु.3000/-
3.	मेहुल पटेल	इंस्टीट्यूट ऑफ आवर लेडी ऑफ फातिमा, मोटी, दमन-396220	ताजमहल की स्थापत्यकला	दमन	प्रोत्साहन रु.1000/-
4.	विशाल वासुदेव हंबर	श्री हरि विद्यालय, उगार खुर्द-591316	ताजमहल की स्थापत्य कला	कर्नाटक	प्रोत्साहन रु.1000/-
5.	चांदनी सिंग्ला	गवर्नमेंट मोडेल सीनि. सेकेंडरी स्कूल, सैक्टर-16 चंडीगढ़	ताजमहल : विश्व को प्रेम का अनूठा उपहार	चंडीगढ़	प्रोत्साहन रु.1000/-

इस प्रतियोगिता में बच्चों की भागीदारी बहुत ही उत्साहवर्धक रही। कई बच्चों ने ताजमहल पर लिखे अपने निबंधों को सुरुचिपूर्ण ढंग से खूब सजा संवार कर प्रस्तुत किया। कई ने ताजमहल के मूल चित्र बनाए। कुछ ने ताजमहल पर कविताएँ भी लिखीं स्थानाभाव के कारण उन्हें यहाँ प्रकाशित करना संभव नहीं हो पा रहा है। तथापि भातृश्री आर.डी. वरसाणी कुमार विद्यालय, भुज, कच्छ, गुजरात के विद्यार्थी वरसाणी भावेश रामजीभाई, आई पी मिशन गर्ल्स हाई स्कूल, राजकोट, गुजरात की जीवरंजनी पूजा नटवरलाल और छोटु भाई पटेल हाई स्कूल, चन्द्रपूर (महाराष्ट्र) के नयन सुधाकर बछलवार द्वारा अपने-अपने निबंधों के साथ बनाकर भेजे गये ताजमहल के चित्रों को प्रकाशित किया जा रहा है।

- सम्पादक

– अनिल शास्त्री

मेरे पिता श्री लाल बहादुर शास्त्री

मैं केवल आठ वर्ष का था जब दक्षिण भारत में एक भीषण रेल दुर्घटना के कारण मेरे पिता श्री लाल बहादुर शास्त्री ने केन्द्रीय रेल मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया था। उन्होंने मंत्री पद से इस लिये इस्तीफा दिया, क्योंकि वे रेल दुर्घटना की जिम्मेदारी रेल मंत्री होने के नाते अपनी समझते थे। जब वे रेल मंत्री पद का कार्यभार नये मंत्री को सौंप कर लौटे तो उन्होंने मेरी तरफ देखा और शायद मुझे उदास समझ कर मुझसे पूछा कि क्या आपको खराब लग रहा है कि मैं अब देश का रेल मंत्री नहीं रहूंगा। मैंने तत्काल उत्तर दिया कि ऐसा नहीं है बल्कि मुझे खुशी है कि अब आप अधिक समय हम लोगों के साथ

अनिल शास्त्री माता ललिता शास्त्री और पिता लाल बहादुर शास्त्री के साथ

व्यतीत कर सकेंगे। वे मुस्कुराये और मुझे प्यार करते हुये अन्दर कमरे में चले गये। लेकिन असलियत में ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि मेरे पिता मंत्रिमंडल से इस्तीफा देने के पश्चात् कांग्रेस पार्टी के कार्य में और अधिक व्यस्त हो गये और पहले से भी कम समय परिवार को मिलने लगा। मैं और मेरे दूसरे भाई-बहन कभी-कभी उनसे शिकायत भी किया करते थे, लेकिन वे हमेशा मुस्कुरा देते और कहते कि देश की सेवा करने का जितना अधिक मौका मिले, उतना उन्हें संतोष मिलता है। पिताजी रोज सुबह करीब सात बजे काम पर निकल जाते, जब मैं नींद में होता, और रात में करीब ग्यारह बजे लौटते, तब भी मैं सोया होता था। कभी-कभी एक-एक सप्ताह बीत जाता था और पिताजी से मेरी मुलाकात नहीं हो पाती थी। यह सिलसिला हमेशा चलता रहा। यहां तक कि जब वे प्रधान मंत्री बने और उसके बाद ताशकन्द में उनकी मृत्यु हुई।

शास्त्री जी की सादगी और नम्रता उनके कई गुणों में से एक थी। इसके बावजूद कि वे ऊंचे पदों पर रहे, वे हमेशा सादा जीवन व्यतीत करते थे। जब वे प्रधान मंत्री बने तब मैंने उनसे कहा कि वे अपने कमरे में कालीन बिछवा लें लेकिन उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। उनका कमरा भी हम लोगों के कमरों से छोटा था, बल्कि एक बरामदे में ही दिवाल उठवा कर बनवाया गया था।

वे कभी भी अपने विचार हम लोगों पर थोपते नहीं थे, हालांकि अपनी राय समय-समय पर भाई-बहनों को दिया करते थे। जिन्हें हम अपने रोजमर्रे के जीवन में अपनाने की कोशिश करते थे। प्रधाान मंत्री पद संभालने के बाद एक प्रेस कान्फ्रेन्स में एक अमेरीकी पत्रकार ने उनसे पूछा कि ऐसा क्यों कि उनके बच्चे फैशनेबल पैन्ट कमीज पहनते हैं और वे स्वयं सादा कुर्ता-धोती पहना करते हैं। उन्होंने तत्काल उत्तर दिया कि वे एक गरीब स्कूल अध्यापक के पुत्र हैं, जब कि उनके बच्चों के पिता भारत के प्रधान मंत्री हैं। इस बात को बताने का मेरा ध्येय यह है कि बदलते हुए

समय को वह पहचानते थे और अपने विचार हम लोगों पर जैसा कि मैंने पहले कहा थोपते नहीं थे।

रोज की तरह खाना खाकर मैं एक दिन रात को अपने पिता के कमरे में सोने के लिये गया। मेरी चारपाई उसी कमरे में होती थी जहां पर मेरे पिता सोते थे। मेरे कमरे में प्रवेश करने से कुछ ही मिनट पश्चात् शास्त्री जी बोले कि वे मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। कमरे में कोई और नहीं था और मैं सोचने लगा पता नहीं कौन-सी बात होगी, जो वे मुझ से कहना चाहते हैं और ऐसे अवसर का इन्तज़ार कर रहे थे, जबकि कमरे में मेरे और उनके अतिरिक्त और कोई न हो। तुरन्त ही उन्होंने कहा-अनिल, मैंने ये देखा है कि आपको बड़ों के पैर छूकर प्रणाम करना नहीं आता। मुझे यह बात अच्छी न लगी। मैंने तुरन्त ही उत्तर दिया, नहीं मैं तो ठीक से प्रणाम करता हूं। यह हो सकता है कि मेरे किसी और भाई से ऐसी गलती हुई हो। पिताजी ने मुझ से कहा कि ऐसी बात नहीं है। उन्होंने मुझ में ही गलती पाई थी। इस पर भी मैं अपनी बात पर डटा रहा। मैं यह समझता हूं कि अगर मेरे पिता के अलावा कोई और पिता होता तो शायद अपने पुत्र को या तो तमाचा मारता, या किसी और प्रकार का दंड देता। लेकिन मेरे पिताजी ने ऐसा न किया और मुझ से इतना ही कहा कोई बात नहीं, हो सकता है कि मेरे देखने में गलती हुई हो। हां मैं उम्र में आपसे बड़ा हूं, और आपका पिता हूं। इसलिये मैं आपको बताना चाहूंगा कि बड़ों को कैसे प्रणाम किया जाता है। मेरे देखते-देखते उन्होंने झुक कर अपने हाथों से मेरे पैर छुए और बड़े आदर के साथ प्रणाम किया, और इतना ही कहा अगर आप इस तरह प्रणाम करते रहे हैं तो मैं अपनी गलती मानता हूं, और अगर आप अपने प्रणाम करने में त्रुटि पायें तो आपको मैंने जो ढंग बताया है, उसे अपनाने की कोशिश करें। मैं शायद यह बताने में असमर्थ हूं कि मुझे मेरे पिता ने मेरी गलती की कितनी बड़ी सज़ा दी। मेरी आंखों में आंसू थे, और मैं अपनी गलती को अच्छी तरह से अनुभव कर रहा था। मैंने तुरन्त ही पिताजी से अपने व्यवहार के लिये माफी मांगी, और उन्हें वचन दिया कि जीवन में हमेशा जब कभी बड़ों को प्रणाम करूंगा तो मेरी पूरी चेष्टा रहेगी, कि उसमें कोई त्रुटि न रहे। वे मुस्कुराने लगे और कहने लगे कि मेरी आंखों में आंसू क्यों थे, जबकि उन्होंने मुझे मारना पीटना तो दूर रहा डांटा तक नहीं। मैं इतना कहकर चुप हो गया, कि अगर आप मुझे डांट लेते या पीट लेते, तो ज्यादा अच्छा होता, और न ही मेरी आंखों में आंसू होते।

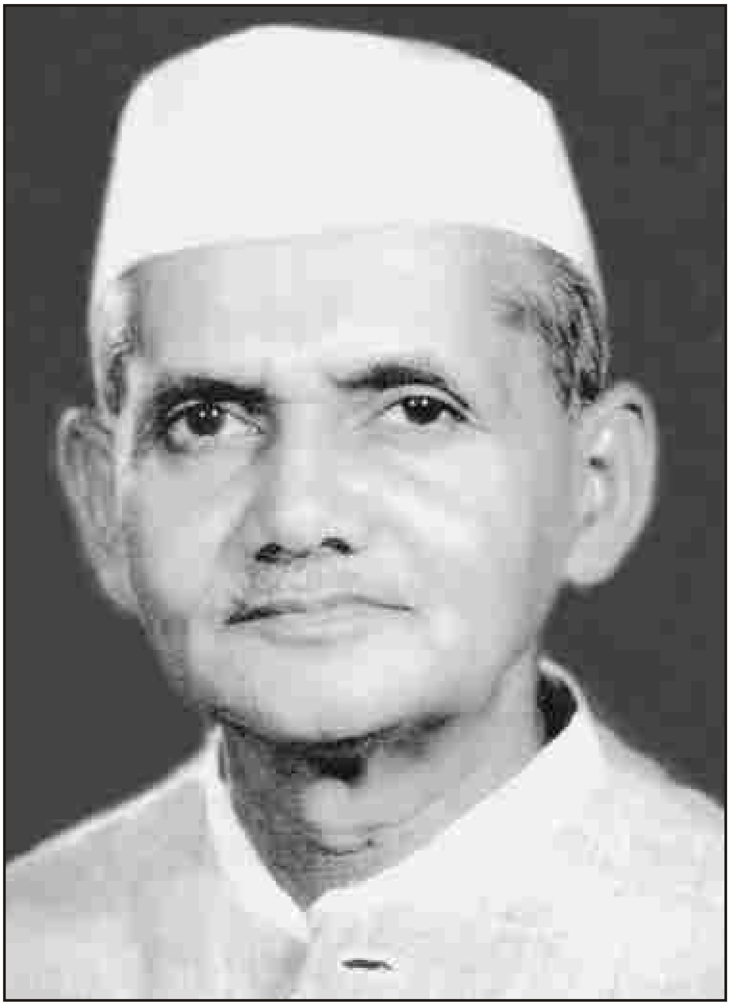

भारत-पाकिस्तान की 1965 की लड़ाई में शास्त्री जी अत्यन्त लोकप्रिय हुए, इसलिये कुछ बातें उस समय की भी बताना चाहूंगा। करीब शाम के आठ बजे थे, और वे खाना खा रहे थे। हालांकि रोज रात में वो इतनी जल्दी खाना नहीं खाते थे। लेकिन उस दिन मुझे नहीं मालूम कि वे आफिस से जल्दी क्यों लौटे। खैर थोड़ी ही देर में उनके निजी सचिव ने आकर उनसे कहा कि जनरल चौधारी और एयर मार्शल अर्जुन सिंह उनसे मिलने आये हैं। उन्होंने खाना बीच में ही छोड़ दिया, और करीब सात मिनट में वे लौटे, और उनके चेहरे पर

हल्की-सी मुस्कान थी। हम सब घर वाले आश्चर्य कर रहे थे कि कौन-सी ऐसी बात थी कि दो-दो सेनाध्यक्ष एक साथ प्रधानमंत्री से मिलने आये। जब हम लोगों ने उनसे पूछा तो उन्होंने इतना ही कहा कि पाकिस्तान से युद्ध छिड़ गया है। हम लोग हक्का बक्का रह गये। शास्त्री जी अत्यन्त सामान्य थे। उनके चेहरे पर जरा-सी भी चिन्ता प्रकट नहीं हो रही थी। उन्होंने बताया कि जनरल चौधरी और एयर मार्शल अर्जुन सिंह को यह सूचना मिली है कि पाकिस्तानी सेना करीब सौ पैटन टैंक लेकर भारत की सीमा रेखा पार करने 'छम्ब' में आगे बढ़ रही है। उन्होंने भारत के सेनाध्यक्ष को आदेश दिया है कि पाकिस्तान की सेना का पूरी ताकत से मुकाबला किया जाये। ये सब सुनकर, हम लोग थोड़ा घबरा रहे थे, लेकिन उन्होंने हम लोगों को ढाढ़स बंधाया और कहा कि उन्हें भारतीय सेना पर पूरा विश्वास है और युद्ध में भारत अवश्य विजयी होगा।

युद्ध के दौरान देश में खाने की समस्या थी, और शास्त्री जी ने देशवासियों से आग्रह किया था कि हफ्ते में एक समय खाना न खायें। यह कहने से पहले उन्होंने खुद व्रत रखा था, और हम लोगों से व्रत रखने को कहा था और घर में सोमवार की शाम खाना नहीं बनता था। मैं और मेरे परिवार के लोग बाबूजी की याद में सोमवार की शाम को आज भी खाना नहीं खाते हैं। यह घटना मैंने इसलिये बतायी क्योंकि मैं यह बताना चाहता हूं कि पिताजी दूसरों को कुछ करने के लिये तब ही कहते थे, जब वे खुद का काम कर लेते थे। अगर वे हमें अपने जूते खुद साफ करने को कहते थे, तो वो खुद भी ऐसा ही करते थे। वे नौकरों को डांटने से मना करते थे, और हमने भी उन्हें कभी भी नौकरों पर क्रोध करते नहीं देखा। वे हमेशा कहते थे कि बड़ों से आदरपूर्वक बात करनी चाहिये, और खुद भी सबको यहां तक कि हम छोटे बच्चों को भी आप कह कर सम्बोधित करते थे।

ताशकन्द जाने से कुछ ही दिन पूर्व शास्त्री जी इलाहाबाद से करीब 35 मील दूर एक गांव जिसे मांडा कहते हैं, गये थे। मांडा एक पिछड़ा हुआ गांव है जहां उस समय एक गिलास पानी भी करीब 50 पैसे का मिलता था। वहां बड़ी दयनीय स्थिति को देखकर उनको अत्यन्त दुख हुआ और उन्होंने अपने भाषण में वहां के निवासियों को आश्वासन दिया कि ताशकन्द से लौटने के पश्चात् मांडा के लिये कुछ करेंगे। परन्तु विधाता को यह मन्जूर न था और उनकी सोवियत रूस में अचानक मृत्यु हो गयी। मेरी माताजी श्रीमती ललिता शास्त्री के मन में शास्त्री जी का वचन पूरा करने की ठन गई। बाबूजी की मृत्यु के एक ही वर्ष के अन्दर मांडा में श्री लाल बहादुर शास्त्री सेवा निकेतन की स्थापना की। इस निकेतन में बच्चों के लिये हाई स्कूल और औरतों के लिये बुनाई, कढ़ाई का प्रबन्ध किया गया है। पिताजी को बुनी हुई खादी से विशेष लगाव था इसलिये अम्बर चरखे का भी प्रबन्ध किया गया है। मांडा में निकेतन की ओर से माचिस भी बनाई जाती है, जिससे इस गांव के लोगों को काम मिल गया है और काफी हद तक बेरोजगारी उन्मूलन हुआ है।

मेरी मां के परिश्रम व जनता के सहयोग से शास्त्री सेवा निकेतन के केन्द्र अब मिर्जापुर, बनारस, बस्ती, फतेहपुर (उ0 प्र0), जमशेदपुर (झारखण्ड) एवं इन्दौर (म0 प्र0) में शुरू हो गए हैं।

3 जनवरी, 1966 की सुबह मुझे याद है, मैं पलंग पर लेटा हुआ था, मेरे पिता लाल बहादुर शास्त्री ताशकन्द के लिए रवाना हो रहे थे। करीब 7 बजे मेरे बगल से गुजरे और मेरे गाल थपथपाते हुए बाहर निकल गए। वह मेरी अपने पिता से आखरी मुलाकात थी।

– अनिल शास्त्री
ए-17, सैक्टर-39,
नोएडा

– मधुकर उपाध्याय

दांडी मार्च : सांप्रदायिक सद्भाव का आंदोलन

बड़ी घटनाएं छोटी घटनाओं से भिन्न होती हैं कई मायनों में। बड़ी घटना का विस्तार बड़ा होता है, तमाम छोटी बातें उसके दाएं-बाएं जुड़ जाती हैं। यह सिर्फ घटना के स्तर पर नहीं होता। अर्थ के स्तर पर भी होता है। किसी बड़ी घटना का पूरा अर्थ खुलने में बड़ा समय लग सकता है। शताब्दियों तक का समय और कई बार वह भी नाकाफी होता है। यह बड़ी घटनाओं का बड़प्पन है। वे तात्कालिकता में नहीं जीतीं। देश-काल की परिधियां उन पर लागू नहीं होतीं। छोटी घटना की तरह उनके दायरे छोटे नहीं होते। उनके परिणाम केवल इस आधार पर नहीं देखे जाते कि उनसे हासिल क्या हुआ। सफलता या विफलता के पैमाने उन पर अपने पारंपरिक अर्थों में लागू नहीं होते। उन्हें देखने के पैमाने दूसरे होते हैं।

महात्मा गांधी का जीवन एक घटना था। एक बड़ी घटना। निहायत खुला हुआ। साफ-साफ। सब कुछ सबके सामने। लेकिन अंग्रेजों को वे सन सैंतालीस के प्रारंभ तक 'पहेली' ही लगते रहे। माउंटबेटन ने उन्हें पहेली कहा। कहा कि यह समझ नहीं आता कि वे संत हैं या एक कुशल राजनीतिज्ञ। यह गांधी का अद्भुत व्यक्तित्व था। वह निहायत छोटी दिखने वाली बात को विराट बना सकते थे और इसका ठीक उलटा भी कर सकते थे उतनी ही सहजता से। उनके लिए यह संभव था कि एक चुटकी नमक से विशाल ब्रितानी साम्राज्य को हिला दें। उसकी चूलें हिल जाएं और उसे पता भी न

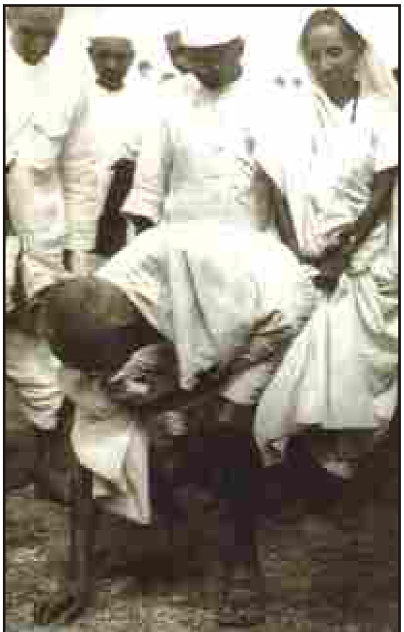

चुटकी नमक भर उठाते गांधीजी दांडी तट पर

चले। अंग्रेज शासक और अधिकारी इसे 'एक मजाक' ही समझते रहे। यह ब्यौरा उनकी खतों-किताबत में है। अब आजादी की लड़ाई के हिस्से की तरह इतिहास की किताबों में दर्ज हैं।

यह किस्सा एक मामूली चीज को बड़ा बनाने का है। इसका उलटा भी महात्मा गांधी ने उसी के साथ किया। नमक आंदोलन के दौरान ही। उन्होंने दांडी मार्च शुरू करने से पहले वायसराय को एक पत्र लिखा। ब्रितानी साम्राज्य के सर्वोच्च प्रतिनिधी को। उन्हें कोई नाम से नहीं पुकारता था। उन्हें सामान्य आदरसूचक शब्दों से भी ऊपर रखा जाता था। 'मिस्टर' या 'सर' उनके लिए छोटे संबोधन थे। वायसराय को या तो 'महामहिम' कहकर संबोधित किया जाता था या फिर 'परमश्रेष्ठ'। अपने ढाई कपड़ों में साबरमती आश्रम की कुटिया में बैठे गांधी ने वायसराय को उनके उच्च आसन से उतार दिया। उन्हें जमीन पर ला खड़ा किया। गांधी ने चिट्ठी में उनके लिए संबोधन इस्तेमाल किया, 'प्रिय मित्र'।

दो मार्च, उन्नीस सौ तीस को महात्मा गांधी ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध करने के लिए नमक आंदोलन का मन बना चुके थे। उन्होंने इसके बारे में वायसराय को सूचित करना उचित समझा। 'प्रिय मित्र' संबोधन के साथ उन्होंने एक चिट्ठी वायसराय को भेजी। सिर्फ उन दो शब्दों से गांधी ने आजादी की लड़ाई को बराबरी की लड़ाई बना दिया। एक बहुत बड़ी दूरी हुंच

चुटकी में मिटा दी। यह संदेश दिया कि लड़ाई शासक और शासित के बीच की नहीं है। लोगों के लिए संदेश यह था कि अंग्रेज शासक आम लोग हैं, मित्र हैं। वे आसमान से नहीं टपके हैं। यह लड़ाई बराबरी की है और इसमें जीत संभव है। केवल उन दो शब्दों से महात्मा गांधी ने आजादी के सपने को लोगों की पहुंच में ला दिया।

दो मार्च की इस चिट्ठी के बाद गांधी ने वायसराय को एक और पत्र लिखा। पत्र पर तारीख थी- चार मई, उन्नीस सौ तीस। तब तक दांडी मार्च पूरा हो चुका था। गांधी और उनके अठहत्तर सत्याग्रही साबरमती से चलकर दांडी पहुंच चुके थे। नमक कानून तोड़ा जा चुका था। लोग बड़े-बड़े कड़ाहों और तसलों में नमक बना रहे थे। समुद्र से टोकरियों-झपियों में भरकर नमक लाया जाता था। उसे साफ किया जाता था। खाने योग्य बनाया जाता था। गांधी उस समय दांडी, के पास कराड़ी गाँव में रह रहे थे। बांस, फूस और खजूर के पत्तों से बनी झोपड़ी में। वह नमक आंदोलन के अगले चरण के बारे में सोच रहे थे, संभवत: जन-भागीदारी और आंदोलन के उनके तरीके पर लोगों की प्रतिबद्धता जांचने के अगले चरण के रूप में। दांडी नमक का बड़ा केंद्र कभी नहीं था। सन् तीस में भी नहीं। गांधी ने ऐसे में धरासणा को अपना निशाना बनाने का फैसला किया। उस पूरे इलाके में नमक का सबसे बड़ा डिपो धरासणा ही था।

गांधी कराड़ी की झोपड़ी में बैठे जिस समय पत्र लिख रहे थे, उसी समय स्थानीय अधिकारियों को उनकी गिरफ्तारी का आदेश मिला। सूरत के जिलाधीश एच.वी. ब्रेहम और पुलिस अधीक्षक जी. एस. विल्सन तीस हथियारबंद सिपाहियों के साथ कराड़ी के लिए रवाना हुए। पुलिस दस्ता सीधे उस आम के पेड़ के पास पहुंचा जिसके नीचे बनी झोपड़ी में गांधी सो रहे थे। चेहरे पर टॉर्च की तेज रोशनी पड़ी तो गांधी उठ बैठे। मजिस्ट्रेट ने उन्हें गिरफ्तारी का वारंट पढ़कर सुनाया। उस समय रात के पौने एक बजा था। पंडित खरे ने गांधी के अनुरोध पर 'वैष्णव जन' गाया। तानपूरा लिए। आखों में आंसू भरे हुए। गांधी सिर झुकाकर मौन खड़े रहे। रात के अंधेरे में करीब दस किलोमीटर चलकर कार रूक गई। अहमदाबाद से बम्बई जाने वाली फ्रंटियर मेल वहां पहले से रुकी हुई थी। गांधी को गाड़ी के रसोईयान में चढ़ा दिया गया। पुलिस और प्रशासन को यह इंतजाम एहतियातन करना पड़ा। उन्हें डर था कि गांधी की दिन में गिरफ्तारी पर व्यापक प्रतिक्रिया हो सकती थी, जिसे संभाल पाना उनके लिए मुश्किल होता।

जेल में गांधी

धरासणा के नमक भंडार पर धावे का फैसला हो चुका था। महात्मा गांधी की गिरफ्तारी से उस पर कोई फर्क नहीं पड़ने वाला था। गांधी ने पहले ही यह निर्धारित कर दिया था कि उनकी गिरफ्तारी की स्थिति में आंदोलन का नेतृत्व कौन करेगा। पहला नाम अब्बास तैयबजी का था। वह दांडी कूच में शामिल नहीं थे लेकिन लगातार गांधी के साथ रहे। यह भी तय था कि तैयबजी के पकड़े जाने पर सरोजिनी नायडू आगे आएंगी। सत्याग्रहियों का नेतृत्व करेंगी। सतह पर देखने से यह किसी रणनीतिकार का सहज कदम लग सकता है। यह प्रयास कि नेतृत्व शून्य न हो जाए, लेकिन गांधी की दूरदर्शिता और आगे देख रही थी। उनके लिए यह केवल नेतृत्व का प्रश्न नहीं था। खाली जगह भरने की कोशिश नहीं थी। उन्होंने इसके जरिए हुक्मरानों और देश की जनता को संदेश दिया। बताया कि इस आंदोलन में समाज के हर वर्ग की भागीदारी है। इसमें सब शामिल हैं।

नमक आंदोलन का नेतृत्व अब्बास तैयबजी को सौंपते हुए महात्मा गांधी ने इस अभियान में मुसलमानों की भागीदारी का प्रबल संकेत दिया। दांडी कूच से पहले इस बात पर खासी बहस हुई थी। मुस्लिम समुदाय के कुछ नेता नमक आंदोलन को 'हिंदू आंदोलन' करार दे रहे थे। यात्रा के दौरान भी गांधी पर 'हिंदूवादी' होने के आरोप लगाए गए। हुक्मरानों ने इन आरोपों को अपने ढंग से हवा दी। लेकिन आंदोलन का नेतृत्व तैयबजी के हाथों में जाते ही इन आरोपों की हवा निकल गई। यह लगभग निश्चित था कि बुजुर्ग तैयबजी को धरासणा पर हमले तक गिरफ्तार कर लिया जाएगा। वही हुआ भी। उसके बाद बागडोर सरोजिनी नायडू के हाथों में आ गई। यह गांधी का दूसरा संदेश था। आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी का। इन दोनों फैसलों ने आजादी की लड़ाई के आंदोलन में नई जान फूंक दी। उसका आधार व्यापक बना दिया।

धरासणा पर धावे की पहली तारीख 12 मई थी लेकिन तैयबजी उससे पहले ही पकड़ लिए गए। दूसरे धावे की तारीख 21 मई तय की गई। पुलिस ने सत्याग्रहियों को रोका। लेकिन रुका कोई नहीं। अमेरिकी संवाददाता वेब मिलर ने लिखा, ''लोहे के मूठ वाली लाठियां बरसती रहीं, पर किसी सत्याग्रही ने हाथ नहीं उठाया।

चीखने और दर्द से कराहने की आवाजें मैंने सुनीं। लोग बेहोश होकर या दर्द से छटपटाते हुए गिर पड़े। किसी का सिर टूट गया था। किसी का कंधा दो या तीन मिनट में वे जमीन पर बिछा दिए गए। फिर अगला जत्था चला .... कई बार दृश्य इतना दर्दनाक होता था कि मुझे सिर दूसरी ओर घुमा लेना पड़ता था। इस दौरान सत्याग्रहियों का अनुशासन आश्चर्यजनक था। ऐसा लगता था कि उन्होंने गांधी की अहिंसा को पूरी तरह आत्मसात कर लिया है।''

'अहिंसा के पाठ पर अमल'-गांधी का तीसरा संदेश था। तीन जून को छगनलाल जोशी ने 'मानसून के कारण' धावे को रोक देने की घोषणा की, लेकिन तब तक यह आंदोलन देश के अन्य भागों में फैल गया था। बम्बई से लेकर तमिलनाडु तक। वडाला से लेकर वेदारण्यम तक। तात्कालिकता की नजर से देखें तो यह आंदोलन कामयाब नहीं रहा। नमक कर इसके बाद भी जारी रहा। नमक कानून अपनी जगह बना रहा। उसे आजादी से साढ़े पांच महीने पहले 28 फरवरी, 1947 को समाप्त किया गया। पर यह विफलता नहीं थी। एक बड़ी घटना की सफलता थी। उसमें कई छोटी-छोटी कामयाबियां शामिल थीं । इस आंदोलन का पूरा अर्थ उस समय भले समझ न आया हो लेकिन उसका महत्व छिपा नहीं था।

महात्मा गांधी उस समय येरवडा जेल में थे। इसके बावजूद हर जगह मौजूद। पूरे देश में सबके पास। सरोजिनी नायडू ने कहा, ''गांधी जी का शरीर जेल में है, पर उनकी आत्मा आपके साथ है। भारत का सम्मान आपके हाथ में है।'' गांधी इस आंदोलन के परिणामों से निश्चित रुप से संतुष्ट रहे होंगे। जेल में उनका धयान आन्दोलन के अलावा कई अन्य मुद्दों पर था। वह मुद्दे क्या थे ?इसकी एक झलक उन पत्रों से मिलती है जो महात्मा गांधी ने जेल से आश्रमवासियों को लिखे। वे पत्रों के मार्फत लगातार उनके संपर्क में रहे। इन पत्रों पर गांधी ने कभी नहीं लिखा कि वह जेल में हैं। उन्होंने जेल को नया नाम दे दिया। उसे येरवडा जेल से येरवडा मंदिर बना दिया। हर पत्र में तारीख से ऊपर यही लिखा होता था। इस दौरान उन्होंने एक चिट्ठी आश्रम के बच्चों को लिखी। उन्होंने कहा, ''आम चिड़िया पंख के बिना नहीं उड़ सकती। पंख हो तो कोई भी उड़ सकता है। लेकिन अगर तुम बिना पंख के उड़ना सीख लो तो तुम्हारी मुश्किलें खत्म हो जाएंगी। मैं तुम्हें उड़ना सिखाऊँगा।''

छोटी-छोटी बातें

नमक आंदोलन के साथ गांधी ने पूरे देश को पंख लगा दिए। अगली उड़ान के लिए तैयार कर दिया। एक ऐसी उड़ान, जिसमें आजादी बहुत दूर नहीं रह गई। हाथ बढ़ाकर छू लेने लायक। दांडी मार्च ने आगे का रास्ता साफ कर दिया था। क्षितिज पर स्वतंत्रता की एक धुंधली तस्वीर उभर आई थी। वह शक्ल लेने लगी थी। नमक आंदोलन की ऐसी सफलता बहुत लोगों की कल्पना में भी नहीं रही होगी। गांधी को इसका अनुमान था। इसलिए मार्च के दौरान नमक उनके भाषणों में कम ही होता था। बाकी चीजें ज्यादा थीं। हिंदू-मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार, अनुशासन और फिजूलखर्ची रोकना। राजनीति इस क्रम में बहुत नीचे थी। इतना नीचे कि उन्होंने जवाहरलाल नेहरू को लिखा, ''मैं अपनी यात्रा रोक नहीं सकता। तुमको एक रात जागरण करना पड़ेगा। रात के दो बजे मछुवारों के कंधे पर बैठकर एक नदी पार करनी पड़ेगी।'' नेहरू ने महात्मा गांधी से भेंट का आग्रह किया था। कांग्रेस पार्टी की कार्य समिति की बैठक से एक दिन पहले।

दोनों नेताओं की भेंट महिसागर नदी के तट पर हुई। खेड़ा और भरूच जिलों के बीच। रघुनाथ काका ने रात एक बजे गांधीजी को नाव से नदी पार कराई जब तक नेहरू की कार महिसागर तट पर पहुंची, गांधी की नाव चली गई थी। वही नाव लौटी और रात साढ़े तीन बजे नेहरू उस पार पहुंचे। नेहरू को एक घंटा प्रतीक्षा करनी पड़ी। गांधी की झोपड़ी के बाहर। उनकी बातचीत साढ़े चार बजे गांधी की प्रार्थना-सभा के बाद हुई। यह बातचीत कारेली गाँव तक चली। गांधी ने अपनी यात्रा नहीं रोकी। कारेली की जनसभा खत्म होने तक नेहरू की कार वहां आ गई थी। वह दोपहर में जंबूसर के लिए रवाना हो गए।

कार्यसमिति की बैठक में आंदोलन के अगले चरण के बारे में चर्चा हुई। फैसला यह हुआ कि उसका स्वरूप निर्धारित करने का निर्णय महात्मा पर छोड़ दिया जाए। दांडी कूच चलता रहा। बुवा गाँव में गांधी ने सरकार के खिलाफ कड़ा भाषण किया। लेकिन इसके बावजूद पाटीदारों के गाँव में किसी सरकारी कर्मचारी ने इस्तीफा नहीं दिया। उन्होंने ''बनियों जैसी बात'' करने वाले पाटीदारों से मजाकिया ढंग से कहा, ''मैं गाँव में दो घंटा और हूँ जो पैसे देना

चाहे, दे जाए।'' गांधी कई बार खुद को भी बनिया कहते थे। आश्रम के दिनों में एक महिला ने अपने सारे गहने गांधी को सौंप दिए। गांधी ने उसकी ओर देखकर कहा- नाक से सोने की लौंग क्यों नहीं उतारी? मैं तो बनिया हूँ न। भला इतना सोना ऐसे ही जाने दूंगा? गांधी और महादेव देसाई ने कोशिश की। लौंग नहीं हिली। उन्होंने कैंची मंगाई और उसे काट दिया। एक टुकड़ा गांधी के हाथ में आया। दूसरा रेत में गिर गया। तीनों ने आधा घंटा लगाकर वह टुकड़ा भी ढूंढ़ निकाला। उन्होंने कहा कि दरिद्रनारायण के एक-एक पैसे का हिसाब होना चाहिए।

फिजूलखर्ची गांधी को कतई नापसंद थी। भरूच से चलते समय वह प्याला टूट गया, जिसमें गांधी जी पानी पीते थे। नया प्याला खरीदा गया। एक स्थानीय कार्यकर्ता प्यारेलाल ने दो प्याले खरीद लिए। यह सोचकर कि एक के टूटने पर भी गांधी को परेशानी न हो। प्याले की कीमत छह पैसे थी। गांधी नाराज हो गए। टूटे प्याले की जगह नया प्याला खरीदने पर उन्हें आपत्ति नहीं थी। आपत्ति इस बात पर थी कि दूसरा टूटे बिना तीसरा प्याला क्यों खरीदा गया?कूच के समय ही भटगाम में गांधी चरखों को लेकर नाराज हो गए। सभी सत्याग्रहियों के लिए सूत कातने का कोटा तय था। तकली से कातने में समय बहुत लगता था। उन्होंने इसके लिए चरखे मंगवा लिए। गांधी को यह ''भारी फिजूलखर्ची' लगी। बैलगाड़ी से उतर गए चरखे दोबारा लदवाकर उन्होंने उसे वापस भेज दिया। अब सबके लिए तकली का ही सहारा था।

महात्मा गांधी को एक बात का डर हमेशा लगा रहता था। ईश्वर बना दिए जाने का। वह निरंतर इससे बचने का प्रयास करते रहे। इसे रोकने के लिए कई बार उन्होंने कड़े शब्दों का भी इस्तेमाल किया। लालसा गाँव में गांधी का एक मंदिर है। उस धर्मशाला के कमरे के ठीक सामने, जिसमें गांधी रुके थे। महात्मा को देवता बनाने की यह कोशिश शायद गांधी को पसंद न आती। पर गाँव के लोग गांधी मंदिर के सामने झुककर उन्हें प्रणाम करते हैं और शाम को दीया भी जलाते हैं। दांडी कूच के रास्ते में गांधी एक गाँव में हरिजन बस्ती के कुएं के पास रुके। कुआं सूखा था। सत्याग्रहियों को दूर से पानी लाना पड़ा। गांधी के गाँव से चले जाने के बाद उस सूखे कुएं में पानी आ गया। गाँव वालों के लिए यह चमत्कार था। गांधी का चमत्कार। वे ढोल-मजीरा-थाली बजाते हुए अगले गाँव पहुंचे। गांधी देवता को धन्यवाद देने। गांधी इस पर बहुत नाराज हुए। उन्होंने गाँव वालों से कहा कि अगर कौआ किसी पेड़ पर बैठे और पेड़ गिर जाए तो वह कौवे के वजन के कारण नहीं होता। मुझे अपने बारे में कोई गलतफहमी नहीं है। आपको भी नहीं होनी चाहिए।

अछूतोद्धार, दांडी कूच के दौरान गांधी की कार्यसूची में काफी ऊपर था। गजेरा गाँव में गाँव के लोगों ने हरिजनों को जनसभा में आने से रोक दिया। गांधी जनसभा के लिए मंच पर पहुंचे और चुपचाप बैठ गए। वहां सन्नाटा था। गांधी करीब सात मिनट तक खामोश बैठे रहे। फिर उन्होंने कहा, ''यह सभा अभी शुरू नहीं हुई है। इसका कारण आप जानते हैं। आप अछूतों को अपने बीच बैठने दें अन्यथा मैं उस तरफ जाकर भाषण करुंगा, जहाँ वे बैठे हैं।'' सभा में फिर चुप्पी छा गई। अंत में एक बुजुर्ग ने खड़े होकर कहा कि उन्हें हरिजनों को साथ बिठाने में कोई आपत्ति नहीं है। इसका एक-एक करके सबने समर्थन किया। गांधी ने कहा, ''अंत्यजों के बिना आजादी का कोई अर्थ नहीं है। उन्हें साथ बिठाकर आपने पुण्य का काम किया है। स्वराज की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाया है।

सांप्रदायिक सद्भाव

दांडी यात्रा 12 मार्च, 1930 को साबरमती आश्रम से शुरू हुई थी। पांच अप्रैल को करीब चार सौ किलोमीटर की यात्रा के बाद सत्याग्रही दांडी पहुंचे। अगले दिन सुबह महात्मा गांधी ने समुद्र में स्नान करने के बाद दांडी तट से एक मुट्ठी नमक उठाया और नमक कानून टूट गया। यह उस कूच का अति सरलीकृत विवरण है। इसकी गंभीरता इन पंक्तियों में नहीं है, उनके बीच है। छब्बीस दिन की यात्रा का बारीकी से अध्ययन करने पर कई बार लगने लगता है कि दांडी कूच, नमक कानून तोड़ने के लिए था ही नहीं। एक बार कूच का निर्णय होने के बाद यह करीब-करीब तय था कि सत्याग्रही दांडी पहुंचेगे और नमक बना लेंगे। स्वयं महात्मा गांधी कूच के दौरान नमक से ज्यादा जोर अन्य मुद्दों पर देते रहे । इसमें सबसे प्रमुख सांप्रदायिक सद्भाव था, जिसका उल्लेख उन्होंने हर दिन, हर पड़ाव पर किया।

सन 1930 में सांप्रदायिक सद्भाव पर लगभग रोज बात करने के कोई बड़े कारण नहीं थे। एक बात अली भाइयों की यह अपील थी कि मुसलमान स्वतंत्रता आंदोलन से अलग रहें। बकौल उनके

यह हिंदू-राज स्थापित करने का आंदोलन है। दूसरी बात थी बाल-विवाह पर रोक लगाने वाले 'शारदा एक्ट' पर मुसलमानों का विरोध। यह दोनों कारण इतने बड़े नहीं थे कि गांधी को सांप्रदायिक सद्भाव पर इतना जोर देना पड़ता। हिंदू-मुस्लिम एकता को सार्वजनिक बहस का मुद्दा बनाना पड़ता। कूच के दौरान गांधी ने कहा कि सांप्रदायिक एकता न हो तो उनके लिए स्वराज का कोई अर्थ नहीं है। पचहत्तर साल बाद अब इसके कारण ज्यादा साफ-साफ देखे जा सकते हैं। गुजरात के 2002 के सांप्रदायिक दंगों की वजह और उसकी पृष्ठभूमि अब समझी जा सकती है। गांधी संभवत: यह स्थिति सन् तीस में ही देख पा रहे थे।

अली भाइयों के बयान पर गांधी ने कहा, ''मौलाना शौकत अली ने इस आंदोलन पर एक गंभीर आरोप लगाया है। यह आंदोलन और चाहे जो हो, हिंदू राज्य की स्थापना के लिए तो नहीं है, और न मुसलमानों के खिलाफ है। इस आरोप का पूरा उत्तर स्वयं इस आंदोलन में ही मौजूद है।'' दांडी कूच प्रारंभ करने से पहले गांधी ने अपने अखबार 'यंग इंडिया' में एक लेख लिखकर बताया कि सांप्रदायिक झगड़े की स्थिति में सत्याग्रहियों को क्या करना चाहिए। गांधी संभवत: मानसिक रूप से 12 मार्च की सुबह कूच शुरू होने से पहले ही दांडी पहुंच गए थे। नमक कानून तोड़ चुके थे। उन्होंने सुबह की प्रार्थना सभा में नमक कानून तोड़ने का जिक्र तक नहीं किया। उनकी चिंता के विषय और थे। उन्होंने कहा, ''हमने हिंदू-मुस्लिम एकता का व्रत लिया है। हम गरीब से गरीब, कंगाल से कंगाल और कमजोर से कमजोर लोगों के प्रतिनिधि बनना चाहते हैं।''

कूच के समय एक बार सत्याग्रहियों पर यह आरोप लगा कि वे सिर्फ हिंदू गाँवों में जाते हैं। ठहरते हैं। मुस्लिम बहुल गाँवों के बाहर से निकल जाते हैं। गांधी ने इसे गंभीरता से लिया। इसी दौरान उन्होंने घोषणा की कि नमक कानून तोड़ने के लिए वे एक मुसलमान दोस्त के घर से जाएंगे। दांडी में एक मुसलमान के घर रहेंगे। दांडी में गांधी ''सैफी विला'' में ठहरे। सिराजुद्दीन वासी के घर। यह एक संदेश था। गांधी के अपने अंदाज में। त्रालसा तक आते-आते गांधी की जनसभाओं में मुसलमानों की भीड़ जुटने लगी। वह यात्रा का चौदहवां दिन था। उनका अभियान सफल होता दिखने लगा था।

छब्बीस मार्च को सत्याग्रही देरोल में हरिभाई अमीन की मिल से चले और मुस्लिम बहुल गाँव कंथारिया से होते हुए मोहम्मदपुर नाका पहुंचे। भरूच के एकदम पास। गांधी से वहां हिंदू-मुस्लिम एकता पर कई सवाल पूछे गए। एक सवाल यह था कि क्या वह अकेले और केवल हिंदुओं के बल पर स्वराज हासिल कर लेंगे? गांधी ने कहा, ''मैंने ऐसी आशा स्वप्न या कल्पना में भी नहीं की है कि मैं अकेले अपने बूते पर या हिंदुओं के बल पर स्वराज प्राप्त कर लूंगा।'' बेगमबाड़ी की जनसभा में गाधी ने सफेद दाढ़ी वाले अब्बास तैयबजी की ओर हाथ जोड़ते हुए कहा, ''मैं हिंदू-मुसलमानों से हाथ जोड़कर मदद माँगता हूँ। पाकीजगी, कुर्बानी और आत्मशुद्धि के बिना सत्याग्रह की विजय नहीं हो सकती। दुनिया जिस ओर कुर्बानी देखती है, उसी तरफ झुक जाती है। उसे कुर्बानी अच्छी लगती है।''

जनसभा में मौजूद मुसलमान पीछे से धीरे-धीरे आगे आ गए। कई मुसलमानों ने उनसे कहा, ''तेरी फतह होगी। अल्लाह तेरा भला करेगा।'' इस जनसभा की शुरूआत में गुजराती कवि वसंत विनोदी ने कविता पढ़ी, ''शमशीर सारे खल्क नी, हमने नहीं ताबे करे।'' तैयबजी की बेटी रेहाना बहन ने ''उठ जाग मुसाफिर देर भई'' गाया। फिर पंडित ओंकारनाथ ठाकुर आए। उन्होंने गाया :

गिरि ने गिराओ, मझधार में बहाओ
महासागर में डुबाओ
मगर हाथ नहीं छोड़ेंगे।

गांधी का आत्मबल लोगों को यहां तक ले आया था। नमक कानून टूट गया था। छह अप्रैल की रात दस बजे का समय, गांधी ने सोने से पहले कई चिट्ठियां लिखीं। नारायणदास, लाला दुनीचंद, रेजिनल्ड रेनाल्ड्स और मीरा बहन को। एक लेख लिखा। स्वराज की शर्तों के बारे में : ''हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना मेरे लिए स्वराज का कोई अर्थ नहीं है। ठीक उसी तरह छुआछूत मिटाए बिना स्वराज अर्थहीन है। लेकिन मुझे लगता है कि स्वराज के बिना न तो सांप्रदायिक एकता होगी और न ही छुआछूत मिटेगा।''

इस लेख में नमक का कोई जिक्र नहीं था।

- मधुकर उपाध्याय

126, समाचार अपार्टमेंट्स, मयूर विहार-I, दिल्ली-91

– ज़ुबैर रज़वी

प्रेमचंद का अदब[1] और तन्क़ीदे हयात[2]

प्रोफेसर गोपीचंद नारंग ने माहनामा ''उर्दू दुनिया'' के सितम्बर, 2001 के शुमारे[3] में सफ़्हा[4] 56 पर लिखा था ''मुंशी प्रेमचंद को गांधीयायी या मार्क्सी नज़रिये से देखकर उनकी हमागीर अदबी शख़्सियत[5] को महदूद करने का सिलसिला अब बंद होना चाहिये क्योंकि अगर वह आज भी हमारी तहज़ीब की ज़रूरत हैं तो यह इस बात का वाज़ह[6] सबूत है कि वह एक हक़ीक़त पसंद अदीब थे। उन्होंने मज़ीद[7] लिखा था कि हक़ीक़ी फ़नकार नज़रियात से ताक़त ज़रूर हासिल करता है मगर वह खुद को नज़रियों के महदूद दायरों का कैदी नहीं बनाता। इसी तरह सच्चाई किसी लेबल की मोहताज़ नहीं होती, मसलेहत[8] पढ़ने वाले के अन्दर होती है जिसके मारूज़ी[9] रवैये को किसी अदब की परख का पैमाना नहीं बनाया जा सकता। रूस के इन्क़लाब से मुतास्सिर[10] होकर प्रेमचंद ने अपनी आगही[11] का सबूत दिया था, इसलिए 'गोदान' या 'कफ़न' जैसी उनकी तहरीरों[12] को हक़ीक़त पसंदाना[13] समझा जाये तरक्क़ी पसंदाना[14] नहीं।''

अब ज़रा प्रेमचंद की अमली[15] जिंदगी में गाँधीज़्म और मार्क्सिज़्म के वाज़ह असरात क़ुबुल करने की मिसालें/वाक़ये देखिये –

महात्मा गाँधी तरके मवालात की तहरीक़ के सिलसिले[16] में 8 जनवरी, 1921 को गोरखपुर पहुँचे थे। ग़ाज़ी मियाँ के मैदान में तक़रीबन दो लाख के मजमे में उनकी तक़रीर हुई। ख़राबी सेहत के बावजूद प्रेमचंद बीवी बच्चों समेत गाँधी जी की तक़रीर सुनने के लिए गए हुए थे। गाँधी जी की तक़रीर से उनके दिलोदिमाग़ पर एक जादुई-सी कैफ़ियत पैदा हो गई और उन्होंने मोअल्लिमी[17] की सरकारी नौकरी से मुस्तअफ़ा[18] होने का फ़ैसला कर लिया। बीवी से मशवरे के बाद 14 जनवरी, सन् 1921 को अपना इस्तीफ़ा हेड मास्टर के हुज़ूर में पेश कर दिया। उस ज़माने में प्रेमचंद एक स्कूल में नायब मुदररिस[19] थे। स्कूल के हेड मास्टर बच्चन लाल बहुत अच्छे इंसान थे और प्रेमचंद के बहीख़्वाह[20] भी थे। उन्होंने प्रेमचंद को बहुत समझाया। हालात की ऊँच-नीच की दुहाई दी लेकिन प्रेमचंद टस से मस नहीं हुए। आख़िर 15 जनवरी, सन् 1921 को प्रेमचंद का इस्तीफ़ा मंज़ूर कर लिया गया और प्रेमचंद ने खुद को सरकारी मुलाज़मत[21] से आज़ाद कर लिया।

(ज़माना, प्रेमचंद नंबर, मुक़दमा नानक टाला, सफ़्हा 12)

उस वक़्त मैं सरशता तालीम[22] में सब डिप्टी इंस्पेक्टर था और हमीरपुर के ज़िले में (महुबा) तैनात था। ''सोज़ेवतन'' को निकले छः महीने हो चुके थे। एक दिन रात को मैं

कैंप में बैठा हुआ था कि कलेक्टर साहब का परवाना पहुँचा कि मुझ से मिलो। जाड़े का मौसम था मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों-रात तीस चालीस मील का सफ़र तै करके दूसरे दिन साहब से मिला। उनके सामने ''सोज़ेवतन'' की एक जिल्द रखी थी। मेरा माथा ठनका, उस वक़्त मैं नवाब राय के नाम से लिखा करता था, मुझे उसका कुछ-कुछ पता चल चुका था कि खुफ़िया पुलिस इस किताब के मुसन्निफ[23] की खोज में है। मैं समझ गया कि इन लोगों ने मुझे खोज निकाला और साहब कलेक्टर ने मुझे इसका जवाब देने के लिये बुलाया है। साहब ने एक-एक कहानी का मुझसे मतलब पूछा और आखिर बिगड़ कर बोले तुम्हारी कहानियों में SEDITION भरा हुआ है .... आख़िरकार फ़ैसला हुआ कि मैं 'सोज़ेवतन' की कुल कापियां छपी थीं और अभी मुश्किल से तीन सौ ज़िल्दें बिकी थीं मैंने बक़ाया सात सौ कापियाँ ज़माना प्रेस से मंगा कर साहब की नज़र कर दीं।

(मुंशी प्रेमचंद की कहानी उनकी अपनी ज़ुबानी-ज़माना, कानपुर)

वज़ाहत[24] : 'सोज़ेवतन' की ज़ब्ती एक तरह से बेज़ाबता ज़ब्ती[25] थी क्योंकि किताबों और रिसालों बग़ैरा की ज़ब्ती का कानून 'सोज़ेवतन' की इशाअत[26] जून/जुलाई, सन् 1908 के बाद 9 जनवरी, सन् 1910 में पास हुआ था। इस एक्ट को इंडियन प्रेस एक्ट सन् 1910 का नाम दिया गया था। यह साबित है कि प्रेमचंद की हुब्बुलवतनी[27] और बाग़ियाना ज़ज़्बे[28] से भरपूर तहरीरों ने अंग्रेज़ सरकार को इंडियन प्रेस एक्ट बनाने पर मज़बूर किया था।

सन् 1899 के आस-पास के बरसों में प्रेमचंद को ग़ैर मामूली ग़ुरबत और उसरत[29] का सामना करना पड़ा था, कभी-कभी तो चने खाके भूख मिटाते थे। उन्हीं दिनों में चिनार गढ़ के मिशनरी स्कूल के हेडमास्टर से एक बुक सेलर की दुकान पर मुलाक़ात हो गई। प्रेमचंद उस दुकानदार के पास चक्रवर्ती की हिसाब की शरह[30] एक रुपये में फ़रोख़्त करने आये थे। हेडमास्टर ने उन्हें अपने स्कूल में पढ़ाने की पेशकश की और कहा कि उन्हें अठारह रुपये माहवार मिलेंगे। प्रेमचंद ने तंगदस्ती में इस पेशकश को दस्तगीरी तसुव्वुर[31] किया और स्कूल में पढ़ाने लगे। कोई छः माह बाद स्कूल के एक उस्ताद मौलवी इब्ने अली के खिलाफ़ स्कूल मैनेजमेंट की तरफ़ से होने वाली एक नाइंसाफ़ी के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने के जुर्म में मौलवी इब्ने अली और धनपत राय दोनों को नौकरी से निकाल दिया गया।

(ज़रा सोचिये किन बुरे हालात में प्रेमचंद अपने एक रफ़ीककार[32] के लिये इंसाफ़ तलब करते हुए अपनी नौकरी खो बैठे उसका उन्हें ज़रा भी मलाल न हुआ।)

जनवरी, सन् 1930 में उन्होंने 'हंस' के नाम से हिन्दी माहनामा जारी किया। अभी मुश्किल से छः माह गुज़रे थे कि जून, 1930 में एक ऑर्डिनेन्स के तहत् उस रिसाले से एक हज़ार रुपये की ज़मानत माँग ली गई। ज़मानत देने की सक़त न थी 'हंस' बंद कर दिया। जब यह ऑर्डिनेन्स मन्सूख़[33] हुआ तो 'हंस' दोबारा जारी हुआ। मगर दो तीन ही नम्बर निकले थे कि 'क़ातिल' नामक एक कहानी की इशाअत के जुर्म में फिर ज़मानत मांग ली गई। इस ज़मानत तलबी में सरकार ने सरस्वती प्रेस को भी निशाना बनाया था। चूँकि 'हंस' जैसे बाग़ी परचे को कोई दूसरा प्रेस छापने के लिए तैयार न हुआ तो 'हंस' फिर बन्द कर दिया गया। कुछ दिन बाद सरस्वती प्रेस पर लगी पाबन्दी हटी तो सरकार मुख़ालिफ़ 'हंस' फिर से निकलने लगा।

“ प्रेमचंद को लिखते वक्त इस बात की फिक्र कभी नहीं रही कि वह जो कुछ लिख रहे हैं, वह उनके बाद की सदियों में कितना कुछ पढ़ने लायक समझा जायेगा। ”

'सोज़ेवतन' की ज़ब्ती के बाद जो नवाब राय के क़लमी नाम से लिखा गया था, प्रेमचंद ने धनपत राय और फिर नामों को मुख्फ़ी[34] रख के न-र और द-र के नामों से भी लिखा। चूँकि सरकार की तादीबी[35] कार्रवाइयों का सिलसिला उनके ख़िलाफ़ बराबर जारी था। आख़िर में 'ज़माना' के एडीटर दया नारायण निगम के मशविरे पर उन्होंने प्रेमचंद नाम रखा और उस नाम से उनकी कहानी 'बड़े घर की बेटी' के उन्वान से 'ज़माना' सितम्बर, सन् 1910 में शाए हुई।

प्रोफ़ेसर नारंग का इन वाक़यात से वाक़फ़ियत के बावजूद प्रेमचंद की गांधीवाद और मार्क्सवाद वाली पहचान को यह कहकर रद्द करना कि वह महज़ एक हक़ीक़त पसंद अदीब थे, प्रेमचंद की ज़िंदगी और उनके अदब में दूर तक सुनाई देने वाले नज़रयाती[36] कमिटमेंट की सोचे समझे नफ़ी[37] करता है। और इस सोच का सिरा प्रेमचंद के अदब को निसाब[38] से ख़ारिज़ करने वाले रवैये से मिलता है। प्रेमचंद का कमिटमेंट सियासी भी था और इंसान के साथ अदीब की हमरिश्तगी[39] का एक वाज़ह अलमिया[40] भी।

प्रेमचंद ने कहा था : 'हक़ीक़त पसंदी अगर हमारी आँखें खोल देती हैं तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी सुकूँ बख़्श [41] मक़ाम पर पहुँचा देता है। लेकिन आदर्शवाद में जहाँ यह खूबी है वहाँ यह ख़ौफ़ भी रहता है कि हम ऐसे किरदारों[42] की तख़लीक़[43] न कर बैठें जो महज़ अक़ायद[44] की मौत हों, बेजान हों-किसी देवता का तसुव्वुर और उस की आरज़ू मुश्किल नहीं लेकिन उस देवता में इंसानी रूह को फूँकना मुश्किल काम है।''

प्रेमचंद अपनी इब्तिदाई तहरीरों में आदर्शवादी नज़र आते हैं लेकिन कुछ सालों बाद उनका यह आदर्शवाद हक़ीक़त के रंगों में भीगने लगता है वह पूरी तरह आदर्शवाद को रद्द करने के हक़ में भी नहीं थे मगर आदर्श और हक़ीक़त को साथ लेकर चलने में उनको एक तरह की तख़लीक़ी तमानयत[45] का अहसास होता था। वह लिखते हैं :

''इसमें शक नहीं कि हक़ीक़त पसंदी समाज की बुराइयों की तरफ़ हमारी तवज्जो मबज़ूल[46] कराने में बहुत मददगार होती है क्योंकि उसके बग़ैर मुमकिन है कि हम बुराई दिखाने में मुबालग़े[47] से काम लें और तस्वीर के इस रूख़ को ज़्यादा तारीक[48] दिखायें जितना कि फ़िलअस्ल[49] है लेकिन जब इन कमजोरियों और बुराइयों की तस्वीरकशी[50] हद एतदाल[51] से गुज़र जाती है तो क़ारी[52] के लिये अज़ाब[53] हो जाती है।''

प्रेमचंद ने कहा था :

''जिंदा रहने के लिये इंसान सब कुछ कर सकता है। जिंदा रहना हर एक आदमी के लिये जितना मुश्किल होगा उतनी ही बुराइयों की तादाद बढ़ेगी। जितना आसान होगा उतनी ही बुराइयाँ कम होंगी। समाज का उसूल यह होना चाहिये कि जिन्दा रहना हर आदमी के लिये आसान हो।''

प्रेमचंद का सारा अदब दरअसल एक ऐसे ही समाज की तमन्ना और आरज़ू करते हुए लिखा गया जिसमें आदमी के लिये जिंदा रहना आसान हो। यह आसानी उस तनआसानी[54] या राहत तलबी[55] से मुख़तलिफ़ थी जो इंसान से भाग दौड़ और तगो-ताज़[56] की सारी चहल-पहल छीन लेती है। प्रेमचंद का आदर्श समाज वह था जहाँ इंसान इस्तहसाल[57], ज़ब्र[58] और लूट-खसोट, समाजी और तबक़ाती इम्तियाज[59], और मज़हबी भेदभाव से मुक्त होकर एक ऐसी जिंदगी गुज़ारे जो इंसान दोस्ती और इंसान के दरमियान मुहब्बत भरे रिश्तों की खुश्बू से मोअत्तर[60] हो।

प्रेमचंद के अदब को पढ़ते हुए यह तास्सुर हमारे ज़हन में नक़्श होकर रह जाता है कि वह बेहद बाख़बर अदीब थे। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि वह किस अहद में साँस ले रहे हैं। उनके तख़लीकी अमल[61] में उनका अहद[62] रचा-बसा हुआ था। वह अपने ज़माने से पूरी तरह हम आहंग[63] थे। वह ज़हनी तौर पर अपने क़दीम[64] और उसकी रौशन रवायतों[65] के दिलदादा[66] थे। वह इस हिन्दुस्तानी तहज़ीब के ग़िरवीदा[67] थे जिसका माज़ी सदियों पर फ़ैला हुआ था। वह माज़ी को हाल से और हाल को मुस्तक़बिल[68] से जोड़े रखते थे, इसीलिये वह तबदीलियों से घबराते नहीं थे, उन्हें क़ुबूल करते थे। वह किसी एक रंग के क़ायल न थे, वह जिन्दगी को उसके तज़ादात[69] के साथ देखते थे। उन्हें मुशाबहतें[70] जितनी अज़ीज़ थीं, उतनी ही उसकी ज़िदें भी अज़ीज़ थीं जो ज़िंदगी को हजार रंग बख्शती हैं। प्रेमचंद चूँकि जिन्दगी पसंद और ज़िन्दगी आमेज़[71] अदीब थे, वह ज़िन्दगी के पूरे तज़ाद[72], टकराव और उसके तसादमात[73] पर भी नज़र रखते थे। उनके नज़दीक इंसान अपनी ज़ात में तो एक है मगर अपने अमल में वह हज़ार रंग का हामिल[74] है।

प्रेमचंद ने ज़िंदगी की हक़ीक़त को नंगी आँख से देखा था, इसलिये वह उसकी महरूमियों[75], शिकस्तों और उस पर लगे ज़ख़्मों के शिकवहगुज़ार[76] न थे बल्कि एक खिलाड़ी की तरह ज़िंदगी के नशीबो फ़राज़[77] उसकी हार जीत को खन्दा पेशानी[78] से क़ुबूल करते हुए ज़िंदगी का महाज़[79] छोड़ते नहीं थे। मामला सियासी हो, समाजी हो या अदबी, प्रेमचंद की क़लम हक़ीक़त से कभी आँख नहीं चुराती थी। वह अक़ीदे और रुहानियत के क़ायल थे मगर हक़ायक़[80] की मौजूदगी से इंकार भी नहीं करते थे।

प्रेमचंद का अहद गैरमामूली तबदीलियों और तहरीकों का अहद था, अपने तख़लीकी सफ़र के पहले मरहले[81] में प्रेमचंद पर गाँधी जी की शख़्सियत और फ़लसफ़े का असर पड़ा लेकिन यह फ़लसफ़ा भी उनकी अदबी सफ़र की आखरी मंजिल नहीं बन सका। गाँधी जी के असर ही में उन्होंने सरकारी मुलाज़मत छोड़ी और उनकी तहरीकें आज़ादी, तर्के मवालात[82] और अदम तशद्दुद[83] और अदम तआव्वुन[84] जैसी तहरीकात[85] से खुद को ज़हनी तौर पर हमआहंग रखा। प्रेमचंद तहरीके आज़ादी[86] के बारे में सोचते ही नहीं थे वह तहरीक का हिस्सा थे। यह अलग बात है कि वह तहरीके आज़ादी को उसके अंजाम तक लाने के सिलसिले में बागी और इंकलाबी हदों को पार कर जाने में अपने तामलात[87] की उंगली पकड़े रहते थे। नाविल ''परदा-ए-हिज़ाज़'' (कायाकल्प) का हीरो चक्रधर पुरजोश और पुरखुलूस[88] नौजवान की सूरत हमारे सामने आती है, उसे समाज की फरसूदा रिवायतों,[89] ग़ुलामी और कमीनेपन से शदीद[90] नफ़रत है। वह एक आज़ाद ख़ूबसूरत और बेहतर दुनिया का आरज़ूमंद है। वह ख़ानदानी रस्मोरिवाज़ से बग़ावत करता है और हिन्दू-मुस्लिम फ़सादात रोकने के लिये अपनी जान ख़तरे में डाल देता है। लूट-खसोट, जुल्म और नाइंसाफी के ख़िलाफ़ सत्याग्रह करता है। मज़लूम तबक़े[91] का साथ देता है। लेकिन जब खेत मज़दूर लूटखसोट से तंग आकर जुल्म को मिटाने के लिये कमरवस्ता[92] होते हैं और राजा के कारिन्दों पर हमला करते हैं तो चक्रधर बीच में आ जाता है, ज़ख़्मी हो जाता है मगर यह ख़्याल उसका पीछा नहीं छोड़ता कि अगर जुल्म की मुखालफ़त न की जाये और उसका तोड़ न किया जाये तो फिर तन्ज़ीम[93] और तहरीक का क्या फ़ायदा?तसादुम[94] और टकराव तक जब तहरीक पहुँचती है तो फिर प्रेमचंद के किरदार तज़वजुब[95] का शिकार हो जाते हैं। ''डामल का क़ैदी'' में गोपीनाथ मज़दूरों की अमली रहनुमाई करता है और फिर अवाम के गुस्से और सेठ के दरमियान आकर अपनी ही जलाई हुई और भड़काई हुई आग पर पानी का छींटा मारता है। मैदान अमल के हीरो अमरकान्त के इन्क़लाबी और बाग़ियाना किरदार को भी बिला आख़िर सत्याग्रह को ही अपने अमल की आखरी मंज़िल समझ लेना पड़ता है। सन् 1935 में हिन्दी साहित्य परिषद की मीटिंग के सिलसिले में गये हुए थे जहाँ उनकी गाँधी जी से पहली और आख़री मुलाकात हुई थी। वह गाँधी जी की शख़सियत से बेहद मुतस्सिर[96] थे। गोशा-ए-आफ़यत (प्रेम आश्रम) गाँधीयायी फलसफ़े की एक तरह से बाज़गश्त[97] ही है। गाँधीयायी फ़लसफ़े ने बहुत दिनों तक प्रेमचंद को अपने साथ बाँधे नहीं रखा। प्रेमचंद अपने तख़लीक़ी सफ़र[98] में ज़िंदगी की किसी एक ही तशरीह[99] और ताबीर[100] पर टिके नहीं उनका फ़न बराबर इरतक़ापजीर[101] रहा और उनकी सियासी और तख़लीक़ी सोच में तबदीलियां बराबर आती रहीं। उनका अदब जब ज़िन्दगी के तनू से दो चार हुआ तो उनकी सियासी और आदर्शवादी सोच में भी तबदीली आई और फिर उन्होंने अदम तशद्दुद और सत्याग्रह जैसे मज़ाहमती हरबो[102] की बेअसरी को महसूस किया। प्रेमचंद ने इब्तेदा में उर्दू के तिलस्माती, हिक़ायती और दास्तानवी अदबी माहौल से अपनी तहरीरों का आग़ाज किया था। इस फैन्टेसी वाली फ़िज़ा से खुद को दूर करने में प्रेमचंद को ज़्यादा वक़्त नहीं लगा और वह हक़ीक़त निगारी की तरफ़ लौट आये। यह वह दौर था जब प्रेमचंद मानने लगे थे कि अदीब का बुनयादी फ़रीज़ा तन्क़ीदे हयात है यानी इंसानी ज़िंदगी की सच्चाइयों को बयान करने का फ़रीज़ा[103]। प्रेमचंद ने अपने इस मोकफ़[104] से गुरेज़ नहीं किया, वह अपने क़लम से तन्क़ीदे हयात का काम लेते रहे। उनके अदब को पढ़ते हुए यह एतराफ़ बड़ी आसानी से किया जा सकता है कि प्रेमचंद ने अपने अहद की जिन्दगी को ज़िया भी, देखा भी और बरता भी। इतनी सतहों पर जब आप अपने अहद के साथ सांस लेते रहेंगे तो ज़िन्दगी की वसअतों[105] का अहाता करना और उस सब का तख़लीक़ में सिमट आना लाज़मी है। प्रेमचंद किसी एक मौज़ू या किसी एक मसले को मुखतलिफ़ ज़ावयों[106] से देखते और उस पर अपना रद्दे अमल ज़ाहिर[107] करते थे। तहरीके आज़ादी के बेहद सर गरम दिनों में प्रेमचंद ने वतन की मोहब्बत पर कहानियों का एक पूरा मज़मूआ

''सोज़ेवतन'' के नाम से तरतीब दे दिया था जिसे अंग्रेज सरकार ने ज़ब्त कर लिया था। इसी तरह औरतों के मसायल पर उनके साथ जो समाजी नाइंसाफ़ियाँ और ज़्यादतियाँ एक ज़माने से रिवाज़ बन चुकी थीं, और एक जाना पहचाना समाजी अमल बन चुकी थीं उनके बारे में प्रेमचंद ने जलवा ए ईसार, बेवाह, निर्मला, ग़बन जैसे नाविल और बेटी का धन, नोक-झोंक, मासूम बच्चा, अभागन, और बदनसीब माँ जैसे अफ़साने लिखे। नाविल 'बेवाह' में कमला प्रसाद की ज़ुबानी कहते हैं :

''अगर किसी नागहानी[108] सदमे से यह मकान गिर पड़े तो हम कल से इसे फिर बनाना शुरू कर देंगे मगर जब किसी औरत की ज़िन्दगी पर कोई नागहानी आफ़त पड़ जाती है तो उस से यह उम्मीद की जाती है कि वह हमेशा एक ही नाम को रोती रहे, यह बड़ी नाइंसाफ़ी है।''

बक़ौल एक तजज़ियानिगार : जिस औरत को हिन्दू समाज ने पति के साथ सती होने पर मज़बूर कर रखा था, प्रेमचंद ने उसी औरत के लिये पति की मौत के बाद ज़िन्दगी का हक़ माँगा। प्रेमचंद ने अपने अहद की इस्लाही[109] तहरीकों की हिमायत और ताईद करते हुए अपने अफ़सानों और नाविलों को इन इस्लाही तहरीकों को तक़वियत[110] और मआशरे[111] में ज़्यादा से ज़्यादा क़ाबिले क़ुबुल बनाने के लिये बड़े मुअसर[112] पैराये में इस्तेमाल किया। ''रूहानी शादी'' नामक ड्रामे में मिस जिनी कहती हैं :

''मैंने एक क़ाबिले क़द्र हस्ती को रुसूम[113] पर कुरबान किया और आज इन रुसूम को इसके नाम पर क़ुरबान कर दूँगी। .... हमारे रुसूम कितने मोहलिक[114] है.......जिसे हम मज़हब कहते हैं महज़ रुसूम का फंदा है। हमारी रूह और ज़मीर[115] की आज़ादी इस फंदे में तड़पती है। मैं आज बुलंद आवाज़ से कहती हूँ कि इंसान अक़ायद से ज्यादा अहम और कहीं ज़्यादा बेशबहा[116] है।''

प्रेमचंद की इंसान दोस्ती में बेपनाह वसत[117], प्यार और अपनापन है। वह इंसान को ख़ानों तबक़ों और दर्जों में किसी भी बुनियाद पर तक़सीम करने के सख़्त ख़िलाफ़ थे। वह इंसानों के दरमियान् यगांगत[118] और मुहब्बत के रिश्तों की आबयारी[119] में यक़ीन रखते थे। रंग, नस्ल, ज़ात-पात के तफरको[120] से शदीद नफ़रत थी। नफ़रत और गुस्से का यह सारा अलाव उनके नाविलों और अफ़सानों में फूट पड़ता था। नाविल मैदाने अमल में अछूतों के साथ होने वाली बदसुलूकी पर वह बेचैन हो उठते हैं, जब मधुसूदन की कथा सुनने के लिय ठाकुरद्वारे के अछूत वहाँ आकर बैठ जाते हैं जहाँ जूते चप्पल रखे जाते हैं तो इस खबर से कि कथा अछूत भी बैठे सुन रहे हैं हंगामा खड़ा हो जाता है। प्रेमचंद इस जुल्म के खिलाफ़ अपने ख़्यालात को डॉक्टर शाँति कुमार के अल्फ़ाज में यों बयान करते हैं :

''आप लोगों ने हाथ क्यों बंद कर लिये लगाइये खूब कस-कस कर और जूतों से क्या होता है, बन्दूकें मंगाइये और इन बेधर्मों का ख़ात्मा कर दीजिये और तुम..........धर्म को नापाक करने वालो सब बैठ जाओ और जितने जूते खा सको खाओ। तुम्हें इतनी भी खबर नहीं कि यहां सेठ, महाजनों के भगवान रहते हैं....... यह भगवान जवाहरात पहनते हैं, मोहनभोग और मलाई खाते हैं। चिथड़े पहनने वाले और सत्तू खाने वालों की सूरत नहीं देखना चाहते।''

शिडूलकास्ट औरत के साथ मज़हबी रोब जमाकर जिंसी ताल्लुक़ात कायम करने की कोशिश को प्रेमचंद अपने नाविल गोदान में यों उजागर करते है :

''आज तो तुम यहां से न जाने पाओगी झूना रानी.....रोज-रोज कलेजे पर छुरी चला के भाग जाती हो, आज मेरे हाथ से न बचोगी... ...एक चाहने वाले का मन रख लोगी तो तुम्हारा क्या बिगड़ेगा। झूना रानी कभी-कभी गरीबों पर दया करो नहीं तो भगवान पूछेंगे कि मैंने तुम्हें इतना रूप-धन दिया था तुमने उससे एक ब्राहमण का उपकार भी नहीं किया तो क्या जवाब दोगी? बोलो! रूपये-पैसे का दान तो सदा ही पाता हूँ आज रूप का दान दो.........''

नाविल 'गोदान' में शिडूलकास्ट किरदार अपने इस्तहसाल[121] के बारे में ख़ासे बेदार[122] हैं। यहां पंडित मातादीन ने सिलिया (शिडूलकास्ट) को शादी के वादे पर घर में रख लिया है। उसने सिलिया को यकीन दिलाया था कि जब तक दम में दम है तुझे ब्याहता की तरह रखूँगा मगर मातादीन तो दरअसल सिलिया का जिन्सी इस्तहसाल कर रहा था। एक मौक़े पर जब सिलिया का बाप और उसकी माँ मातादीन से सिलिया की जिन्सी इस्तहसाल पर झगड़ा करती है तो मातादीन का बाप कहता है ''हरखुवा-तेरी लड़की वह खड़ी है ले जा जहाँ चाहे। यह काम करती थी मजूरी लेती थी, यहाँ मजूरों की कमी नहीं।'' इस धितकार वाले जवाब पर

सिलिया की माँ बेकाबू हो उठती है और ग़ज़बनाक[123] अंदाज में कहती है '' वाह पंडित अच्छा न्याय करते हो, तुम्हारी लड़की किसी के साथ निकल गई होती और तुम इस तरह की बातें करते तो देखती......हम....हैं इसलिये हमारी कोई इज्ज़त नहीं। हम सिलिया को अकेली नहीं ले जायेंगे, उसके साथ मातादीन को भी ले जायेंगे जिसने उसकी इज्ज़त बिगाड़ी है।''

प्रेमचंद के तख़्लीकी अमल में अपने पढ़ने वालों के साथ एक तरह का दिली रिश्ता और इशतराक[124] क़ायम करने का अहसास बड़ा मुस्तहकम[125] है। यह प्रेमचंद की तहरीरों का फ़ैज़ान[126] ही था कि लोगों ने हिन्दुस्तान के वसीतर इलाकों में जिंदगी के दुख झेलती देहाती ज़िंदगी को अपनी ज़िंदगी का एक हिस्सा समझना शुरू कर दिया था और इसी अहसास ने देहाती ज़िन्दगी और उसके मसायल को सियासी अदराक[127] की बुनियाद बना दिया यहाँ तक कि वह सारे छोटे-बड़े मसाइल हमारी सारी क़ौमी और सियासी तहरीक का हिस्सा बन गये। मज़दूर और किसान का इज़्तराब[128] और उसकी अलग थलग ज़िंदगी क़ौमी ज़िंदगी का पुरशोर[129] धारा बन गई।

ज़िन्दगी का शायद ही कोई पहलू और गोशा[130] ऐसा हो जो प्रेमचंद की कहानियों के दायरे में आने से छूट गया हो। कुछ भी तो उनकी निगाह से छूट नहीं पाता। चाहे वह एक मामूली या छोटी-सी वारदात हो या फिर कोई बड़ा समाजी हादसा, इंसान या उसकी नफ़सियात[131]। किसान और साइंसी तसुव्वरात से मुताल्लिक़ उनकी सूझ-बूझ में बड़ी गहराई है। उनकी कहानियाँ साफ़गोई और ईमानदारी से लिखी गई हैं। उनकी आखरी दौर की कहानियाँ आसान और मखसूस[132] रंग की हामिल हैं। ऐसी कहानियों में ''फूस की रात'' और 'कफन' को बहुत ज्यादा शोहरत मिली थी।

प्रेमचंद ने अपने ज़माने में ज़लील किये जाने वाले फ़र्द[133] और उसके साथ होने वाली ज़ियादतियों को एक तमाशाई के बजाये उसकी ज़ात का हिस्सा बनकर उसके दुख-दर्द में अपने अदब को शरीक किया। इसीलिये उनका सारा अदब अपनी मिट्टी और अपने लोगों की महरूमियों[134] को शुमार करने वाला अदब है और आज के बदले हुए हालात में भी हमारे लिये अहम बना हुआ है। प्रेमचंद को लिखते वक्त इस बात की फ़िक्र कभी नहीं रही कि वह जो कुछ लिख रहे हैं, वह उनके बाद की सदियों में कितना कुछ पढ़ने लायक समझा जायेगा। उन्होंने अपने अहद की समाजी, सियासी ज़िंदगी के हर पहलू को मौज़ू[135] बनाते हुए अपने अदब का हिस्सा बनाये रखा और लिखते हुए तन्कीदे हयात का वही रवैया इख्तियार किया जो टॉलस्टाय और गोर्की ने अपनाया था।

- **ज़ुबैर रज़वी**
सी-2, तीसरा तल, लेन सं. 8,
जाकिर नगर, नई दिल्ली-110024

1 साहित्य, 2 जीवन की समालोचना, 3 अंक, 4 पृष्ठ, 5 बहुआयामी साहित्यिक व्यक्तित्व, 6 स्पष्ट, 7 इसके अलावा, 8 भावना, 9 सब्जेक्टिव, 10 प्रभावित, 11 विज्ञता, 12 रचनाओं, 13 यथार्थवादी, 14 प्रगतिशीलता, 15 व्यावहारिक, 16 असहयोग आंदोलन, 17 अध्यापक की, 18 इस्तीफा देने, 19 असिस्टेंट टीचर, 20 शुभचिंतक, 21 नौकरी, 22 शिक्षा विभाग, 23 लेखक, 24 स्पष्टीकरण, 25 बेकायदा ज़ब्ती, 26 प्रकाशन, 27 देश-प्रेम, 28 विद्रोही भावनाओं, 29 गरीबी और तंगी, 30 टीका, 31 मदद समझा, 32 सहकर्मी, 33 रद्द, 34 गुप्त, 35 दंडनीय, 36 विचारधारात्मक, 37 जान-बूझकर नकारता है, 38 पाठ्यक्रम, 39 एक रिश्ते से होने का, 40 स्पष्ट त्रासदी, 41 आरामदेह, 42 पात्र, 43 रचना, 44 मान्यताओं, 45 रचनात्मक संतोष, 46 ध्यान आकृष्ट कराने में, 47 अतिवाद, 48 अंधेरा, 49 वास्तविकता में, 50 तस्वीर खड़ी करना, 51 हद से बाहर, 52 पाठक, 53 पीड़ा, 54 आरामपसंदी, 55 राहतपसंदी, 56 दौड़-भाग, 57 शोषण, 58 जबरदस्ती, 59 वर्ग-संघर्ष, 60 सुगंधित, 61 रचनाकर्म, 62 ज़माना, 63 एक आवाज, 64 पुराने, 65 उज्ज्वल परंपराओं, 66 दिल देने वाले, 67 पसंद करने वाले, 68 भविष्य, 69 विरोधाभासों, 70 एकरूपता, 71 जीवन से परिपूर्ण, 72 विरोध, 73 दुर्घटनाओं, 74 धारक, 75 अभावों, 76 शिकायत करने वाले, 77 उतार-चढ़ाव, 78 खुशी-खुशी, 79 रणभूमि, 80 वास्तविकताओं, 81 पड़ाव, 82 सिविल नाफरमानी, 83 अहिंसा, 84 असहयोग, 85 आंदोलनों, 86 स्वतंत्रता आंदोलन, 87 झिझक, 88 शुद्ध, 89 घिसी-पिटी, 90 सख्त, 91 शोषित तबके, 92 कमर कसते, 93 संगठन, 94 टकराव, 95 दुविधा, 96 प्रभावित, 97 अनुगूंज, 98 रचना-यात्रा, 99 टिप्पणी, 100 खुलासा, 101 उत्तरोत्तर बढ़ता स्तर, 102 रोकने वाले तौर तरीकों, 103 कर्तव्य, 104 दृष्टिकोण, 105 फैलावों, 106 विभिन्न कोणों, 107 प्रतिक्रिया, 108 आकस्मिक, 109 सुधारात्मक, 110 मजबूती, 111 समाज, 112 प्रभावशाली, 113 रस्मों, 114 हानिकारक, 115 अंतरात्मा, 116 बहुमूल्य, 117 फैलाव, 118 एकजुटता, 119 सिंचाई, 120 भेद-भावों, 121 शोषण, 122 जागरूक, 123 गुस्सा भरे, 124 मेल-मिलाप, 125 मजबूत, 126 देन, 127 हलचलों, 128 ज्ञान, 129 बेचैन, 130 कोना, 131 मानसिकता, 132 विशेष, 133 व्यक्ति, 134 अभाव, 135 विषय।

– कमलेश्वर

कथा-संस्कृति : वैश्विक परिदृश्य

यह कहना प्रामाणिक और उचित ही है कि भारत संसार का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ कथापीठ रहा है। यह देश कहानी की जन्मभूमि है। वैसे यह कहना अनुचित नहीं होगा कि विश्व की समस्त अर्वाचीन, लुप्त-विलुप्त और प्राचीनतम सभ्यताओं के नीचे से यदि कहानियों के आधार स्तम्भ हटा दिये जाएँ तो सारी सभ्यताएँ भरभरा कर कच्ची मिट्‌टी की तरह गिर पड़ेंगी। सभ्यताओं के अस्तित्व और उनकी संरचना की पहचान का एक महत्वपूर्ण स्रोत भी कहानियाँ ही हैं। कहानी के बिना बड़ी से बड़ी मानव सभ्यता के इतिहास के शुभारंभ को नहीं जाना जा सकता। यहां तक कि संसार के आदि ग्रंथों की सारी संरचना, कहानियों पर ही टिकी हुई है। वैदिक संहिताएँ (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनके दौर में भी कथाओं, किंवदंतियों, मिथक प्रसंगों और आख्यानों की कमी नहीं है। प्रत्येक वैदिक देवता कहानी से ही जन्मता है। वह किसी न किसी कहानी की ही देन है। सभी सभ्यताओं का यह सत्य है। वह चाहे आदिवासियों की अजटेक-माया सभ्यता रही हो या चीन की, मिश्र की, सुमेरी या अक्कादी। भारतीय सभ्यता तो वेद, ब्राह्मण, पुराण, उपनिषद्, महाभारत, रामायण आदि की असंख्य कहानियों का खजाना है, जिसके द्वारा लौकिक और अलौकिक जीवन के तथ्यों और सत्यों को रूपायित किया गया। धर्म ग्रन्थों के जितने भी अलौकिक प्रसंग या विवरण हैं, वे तो कहानी के बिना पूरे ही नहीं हो पाते, यहां तक कि अध्यात्म और दर्शन में भी कथा-दृष्टांतों की महत्वपूर्ण उपस्थिति बनी ही रहती है।

आज भी भारत में लोक-कथापीठों की कमी नहीं है। यह लोक कथायें ही साहित्य में भी पहुंची, क्योंकि कहानियों का मूल स्रोत लोकधर्मी कथा-प्रतिभा ही है। वैदिक कथा साहित्य के साथ ही भारत बौद्ध और जैन कथाओं का भी आदि देश है। बौद्ध वाङ्मय की जातक कथाएँ तो आज भी श्रीलंका, कम्बोडिया, म्यांमार आदि देशों में बेहद लोकप्रिय हैं और भगवान गौतम बुद्ध के पूर्वजन्मों के वे विवरण रात-रातभर बैठकर सुने और सुनाये जाते हैं। यह राम कथा की ही तरह घर-घर में प्रचलित है। इसके अलावा जातक कथाओं का यह खज़ाना दुनिया भर में कहानियों का सबसे बड़ा कोष है। पंचतंत्र की पशु-पक्षी कथायें तो संसार भर में बेमिसाल हैं ही। यह कहानियाँ मात्र लोक स्मृति में ही मौजूद नहीं हैं बल्कि इनके दृश्य साँची और भरहुत आदि के बौद्ध स्तूपों पर भी अंकित हैं।

सांची शिला फलकों पर उत्कीर्ण जातक कथाएं

> भारतीय कहानियों की परंपरा मात्र, धार्मिक, नैतिक और प्रचारवादी नहीं थी। उन कथाओं में हमें तत्कालीन समय के आचार-व्यवहार, शिष्टाचार, सामाजिक, सांस्कृतिक संकेत और विवरण भी मिलते हैं जो मात्र उपदेश या मनोरंजन तक सीमित नहीं रहते बल्कि वे अपने समय की सभ्यतागत व्यावहारिक जानकारियों के साथ-साथ समाज में किये जा रहे, व्यावहारिक, वैचारिक, और मनुष्य के विकसित होते जीवन का प्रामाणिक परिचय भी दे रहे थे।

वैदिक कथाएँ तो बहुत प्राचीन हैं ही। अभी तक पुराणकथाओं, महाभारत और रामायण के रचना-समय का अंतिम निर्धारण नहीं हो पाया है पर बौद्ध कथाओं का समय ईसा के जन्म से पाँच सदी पहले से लेकर ईसा के बाद की पहली और दूसरी शताब्दी तक फैला हुआ है। भगवान महावीर स्वामी और भगवान गौतम बुद्ध समकालीन हैं। जैन श्रमण साहित्य भी कहानियों से आप्लावित है पर जैन-कालीन प्राकृतभाषा के कथा ग्रंथ सुरक्षित नहीं रहे, जबकि बौद्धकालीन पाली भाषा के धर्म और कथा ग्रंथ आज भी काफी-कुछ सुरक्षित हैं। वैदिक, बौद्ध और जैन कथाओं का आदान-प्रदान, लेन-देन और संवर्धन भी चलता रहा है। बौद्ध विद्वान भदंत आनंद कौसल्यायन ने जातक ग्रंथों की जो टीका लिखी है, उसमें उन्होंने लिखा है कि प्राचीन बौद्ध कथाओं में से कई एक कहानियाँ अपने विकसित रूप में महाभारत और रामायण में मिलती हैं। वैसे कौसल्यायन जी की स्थापना को वाद-विवाद का विषय नहीं बनना चाहिए पर यह सहज ही माना जा सकता है कि कहानियों का लेन-देन लगातार जारी रहा है। यह मात्र संस्कृत, पाली और प्राकृत भाषाओं के बीच ही जारी नहीं रहा है बल्कि क्षेत्रीय और जनपदीय बोलियों और भाषाओं में तो लोक कथाओं का लेन-देन जारी था।

बौद्ध और जैन कथाओं ने धर्म-प्रचार में बड़ी भूमिका अदा की है। यह कहानियाँ अधिकांशत: उस समय की हैं, जब वैदिक संस्कृत का लोप हो रहा था। यह पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं और साहित्य का उदय काल था। वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत में पर्यवसित हो चुकी थी और ब्राह्मणवादी वैदिक धर्म के प्रति जन-साधारण वीतराग हो चुका या हो रहा था। लौकिक संस्कृत विकसित होती पाली और प्राकृत के सामने नहीं टिक पाई। यों भी वैदिक समाज वर्णवादी ब्राह्मणों के हाथों में चला गया अत: उसकी सामाजिक संरचना और कार्य-श्रेणी-विभाजन आम जनता को रास नहीं आ रहा था। उनके पौराणिक प्रवचन और आध्यात्मिक विमर्श लोगों के संसारिक जीवन और उसकी समस्याओं से विरक्त थे। आर्य-आध्यात्मिकता और अपने-अपने परा-जीवन, ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व के प्रश्न समाज की सामूहिकता को नकार कर व्यक्ति की निजी व्यक्तिवादिता को प्रश्रय दे रहे थे ... वर्णवाद ने जो श्रम विभाजन का सिद्धांत प्रतिपादित किया था, वह समाज में श्रम करने और जीने के अधिकार के नियमों से अधिक वर्ण-विशेष की वर्चस्वता और श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता था, अत: जन साधारण की बहुसंख्या वैदिक पुराण, पाखण्ड, जन्मगत सामाजिक शोषण के सिद्धांत, पाखण्ड और पुरोहितवाद से ऊबकर ब्राह्मणवादी आर्य व्यवस्था की विरोधी हो रही थी।

वह भाषा संस्कृत, जिसे देव और दैवी भाषा माना जाता था, वह लोगों के मन से उतर गई थी। सच पूछिए तो यह वैदिक संस्कृत का अवसान काल था। इस समय बोलचाल की बड़ी सशक्त भाषायें पाली, प्राकृत और अपभ्रंश पनप रही थीं। लगभग समस्त बौद्ध साहित्य और भिक्षुओं के आपसी व्यवहार की भाषा पाली थी और जैन धर्म-सम्प्रदाय और श्रमणों की भाषा प्राकृत यही कारण है कि भारतीय कथा-कथन और कथा-रचना की भाषा भी मुख्यत: पाली और प्राकृत हो गई। पाली में बौद्धों का लगभग समस्त साहित्य रचा गया और प्राकृत में जैन तथा अन्य साहित्य।

बौद्धों के पाली में लिखित साहित्य की तरह जैन सम्प्रदाय का

धार्मिक और कथा साहित्य प्राकृत में लिखा गया। इसमें भी कहानियों का विपुल भण्डार है। बौद्ध भिक्षुओं की तरह जैन साधु भी अपने धर्म प्रचार के लिए दूर-दूर देशों में भ्रमण करते थे। उनके लिए यह आवश्यक भी था। धर्मों में संहिताओं और धार्मिक आदेशों के नियम मौजूद हैं। जैनियों के ऐसे ही एक ग्रंथ 'बृहत्कल्पभाष्य' में बताया गया है कि जैन साधु को आत्मशुद्धि के लिए तथा दूसरों को धर्म में स्थिर करने के लिए लगातार जनपद विहार करना चाहिए तथा जनपद विहार करने वाले साधु को मगध, मालवा, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गौड़, द्रविड़, विदर्भ आदि देशों की भाषा में जन साधारण को उपदेश देना चाहिए। उसे देश-विदेश के रीतिरिवाजों पर आचार-विचार का ज्ञान होना चाहिए जिससे उसे हास्यभाजन न बनना पड़े। जाहिर है कि इन यात्राओं से क्षेत्रीय बोलियों का निश्चय ही आदान-प्रदान हुआ और एक-एक क्षेत्र की लोकोक्तियों और लोककथाओं की आपसी सामाजिकता भी निश्चय ही स्थापित हुई होगी।

जैन साहित्य की प्राचीनतम कथा-सम्पदा आगम साहित्य के नाम से पहचानी जाती है। यह पैशाची प्राकृत भाषा में लिखित था। पाली, प्राकृत और लौकिक संस्कृत के सम्मिश्रण से बनती अपभ्रंश भी तब मौजूद थी और इन भाषाओं का जन साधारण में बहुत प्रचलन था। वैदिक संस्कृत जन साधारण की भाषा नहीं रह गई थी। स्वयं वैदिक ब्राह्मण रचना तो वैदिक संस्कृत में करते थे पर उनकी बोलचाल की भाषा पाली या प्राकृत ही थी। वैदिक संस्कृत को लेकर जन साधारण में भाषाई अरुचि उत्पन्न हो चुकी थी। इसका एक दृष्टांत मराठी शोधकर्ता डॉ. माधव मुरलीधर देशपाण्डे और अपने विद्वान डॉ. राजमल बोरा ने पेश किया है :

''एक राजपुत्र पेड़ के नीचे बैठा हुआ था। उस समय उसने एक संभाषण (आपस की बातचीत) सुना। वह उक्त भाषा के सम्बन्ध में तर्क करने लगा। प्रथम तो वह कहता है कि संभाषण संस्कृत में नहीं है क्योंकि संस्कृत तो अत्यन्त दुर्बोध भाषा है और कठिन भी है, दुर्जनों के हृदय सदृश कठोर है। यह संभाषण प्राकृत में भी नहीं है क्योंकि प्राकृत सज्जनों के हृदय की तरह सुखद रहती है और उसमें प्रकृति का सुंदर वर्णन रहता है और प्राकृत शब्द संस्कृत जैसे एक-दूसरे से सन्धि से युक्त नहीं रहते। यह संभाषण अपभ्रंश में भी नहीं है क्योंकि अपभ्रंश में शुद्ध-अशुद्ध संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण रहता है। वह तो बाढ़ आने वाले पानी सदृश अनियंत्रित रहती है किन्तु यह संभाषण तो प्रेमी और प्रेमिका की बातों के सदृश सुन्दर है। ये संभाषण इन तीनों प्रकार की भाषाओं में ठीक से बैठता नहीं इसलिए इसे पैशाची कहना अधिक ठीक होगा। राजपुत्र का निर्णय था कि यह पैशाची में संभाषण होगा।'' यों यदि भारतीय प्राकृत को पैशाची मान लिया जाए तो पैशाची का भौगोलिक विस्तार चीनी तुर्किस्तान तक मानना पड़ता है। दूसरी ओर सिन्धु नदी के तट तक तो उसका विस्तार था ही। सिन्धु नदी के पूर्व में जमुना तक शौरसेनी का विस्तार था। इस तरह पैशाची, शौरसेनी का संस्कार प्राप्त कर रही थी। ओड़ीसा के विद्वान भाषाविद् मार्केण्डेय के अनुसार पैशाची के तीन प्रधान भेद बतलाये गये हैं, उनमें कैकेय के बाद दूसरा भेद शौरसेनी पैशाची का है। तीसरा भेद पांचाल पैशाची का है। पैशाची को संस्कृत ही नहीं अपितु प्राकृतों के रूपों से सम्बद्ध मानने का प्रयत्न व्याकरण-ग्रन्थों में क्यों हुए इसके कारण भाषा-समुदायों के आपसी सम्बन्धों में खोजने होंगे, ईसा की आठवीं शती में जैन साहित्यकार उद्योतन सूरी ने 'कुवलयमाल' ग्रन्थ में प्राकृत की कथा दी है। उस कथा का संक्षिप्त विवरण डॉ. माधव मुरलीधर देशपाण्डे ने 'संस्कृत आणि प्राकृत भाषा' (मराठी पुस्तक) में दिया है। उस कथा को प्रस्तुत कर रहा हूँ। उक्त कथा में पैशाची का विशद उल्लेख है।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि पैशाची को अन्य भाषाओं से अलग बतलाया गया है। गुणाढ्य की पैशाची को इसी तरह अलग माना गया है। प्राकृतों में उसकी गणना नहीं है। प्राकृत के रूपों का जैसा सम्मान हुआ है, वह सम्मान भी पैशाची को नहीं मिला। पेशावर, चीनी, तुर्किस्तान, ईरान में जो सम्मान पैशाची को मिला, वह सम्मान पैशाची को भारत में नहीं मिला। विशेषरूप से गुणाढ्य के काल में उसे सम्मान नहीं मिला। बाद में विद्वान भूल गए कि पैशाची कैकेय की भाषा है। वे उसे विन्ध्याचल के पास की भाषा मानने लगे। पिशाच भाषा कहने लगे। राजशेखर ने तो उसे भूत भाषा कह दिया है। यह सब क्यों हुआ ?जिस पैशाची भाषा के माध्यम से बौद्ध और जैन धर्म का विस्तार मध्य एशिया के देशों एवं भाषा में हुआ, उक्त भाषा के प्रति अवहेलना पैदा होती गई।

गुणाढ्य की वृहत्कथा को पैशाची की एकमात्र साहित्यिक रचना के रूप में हम जानते हैं। मूल ग्रन्थ तो लुप्त है। उसके संस्कृत अनुवाद उपलब्ध हैं। मराठी में कथासरित्सागर का अनुवाद पांच खंडों में उपलब्ध है। वह सोमदेव द्वारा अनूदित कथासरित्सागर का अनुवाद है। उसके कथा खंड लंबक के आठवें तरंग में गुणाढ्य की कथा है। गुणाढ्य के दो शिष्य गुणदेव और नन्दिदेव थे। शिष्यों ने प्रस्ताव किया था कि उक्त कथा सातवाहन राजा के योग्य है। गुणाढ्य ने शिष्यों की बात मान ली। गुणाढ्य तो राजधानी पहुंचकर देवी के मन्दिर में ठहर गया। वे दोनों शिष्य सातवाहन राजा के दरबार में पहुंच गए। उनके साथ वह महाकथा का ग्रन्थ था। उन्होंने वह ग्रन्थ राजा को दिखलाया और कहा– 'यह गुणाढ्य की रचना है!' किन्तु राजा उस समय स्वयं अपनी विद्या से अभिभूत था। उसमें मत्सर की भावना थी। उसे ये दोनों ही शिष्य पिशाच की तरह दिखलाई दे रहे थे और फिर वह ग्रन्थ पैशाची में लिखा हुआ था। फिर क्या?राजा ने कहा– 'इस महाग्रन्थ में सात लाख श्लोक हैं किन्तु पैशाची भाषा में है। यह भाषा बहुत नीरस लगती है, अलावा इसके यह रक्त से लिखी गई है। इस पैशाची कथा का धिक्कार हो।'

शिष्यगण चकित रह गए। वे ग्रन्थ लेकर गुणाढ्य के पास गए और सारा वृत्त कह सुनाया। सुनकर गुणाढ्य का मन खिन्न हो गया। खिन्न भावना से वह वहां से निकट के वन में पहाड़ी पर गया। प्रदेश रमणीय था और एकान्त स्थल था। वहां वह ग्रन्थ का एक-एक पृष्ठ उठाकर पढ़ने लगा। उसे पशु-पक्षी सुन रहे थे। पढ़ना पूरा होने पर उस पृष्ठ को उसने अग्नि कुण्ड को समर्पित कर दिया। उसके शिष्यों की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। वे विवश थे। अंततः उन दोनों ने उसे अग्निकुण्ड को पृष्ठ समर्पित करने से रोका। अब तक उसने नरवाहन दत्त का चरित्र जलाया नहीं था। सात कथाओं में से इस एक कथा के भी एक लाख श्लोक थे। गुणाढ्य जब 'कथावाचन कर रहा था, उस समय वन के पशु, भैंसे, हिरन, सुअर आदि सब मंडलाकार रूप में उसे घेर कर बैठे थे और कथा सुन रहे थे। कथा सुनने के लोभ में उन्होंने घास खाना बन्द कर दिया था। उनकी आँखों में अश्रुधारा बह रही थी। वे सब स्तब्ध और निश्चल बैठे थे। ठीक उसी समय राजा अस्वस्थ हो गया। वैद्यों ने निदान किया और कहा शुष्क माँस खाने के कारण ऐसा हुआ। राजा ने रसोइयों को बुलवाया और पूछा। उन्होंने कहा– 'हम क्या करें?माँस लाने वाला हमें शुष्क माँस दे रहा है। उसने व्याध को बुलवाया। उसने कहा– 'इस समय निकट के वन में अग्निकुण्ड जलाकर एक कथावाचक बैठा हुआ है। वह अपने ग्रन्थ का पूरा पृष्ठ पढ़कर सुनाता है और पढ़े हुए पृष्ठ को अग्नि को समर्पित कर देता है। उसके इस कथावाचन को वन के पशु सुनते हैं। उन्होंने घास खाना छोड़ दिया है। इसीलिए उनका माँस शुष्क होता जा रहा है। उस चमत्कार को सुनकर राजा स्वयं उस वन में गया। उसने देखा वह कथावाचक सचमुच पृष्ठों को अग्निकुण्ड को समर्पित कर रहा है। उसकी जटाएं बढ़ गईं थीं और पशुओं की आँखों से भी अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। गुणाढ्य का शरीर भी कृश हो गया था। पशुगण उसे घेर कर बैठे हुए थे। राजा ने तब गुणाढ्य से सारा वृत्त सुनाने को कहा। गुणाढ्य ने अपना सारा वृत्त सुनाया। राजा को लगा, गुणाढ्य तो 'माल्यवान गण' का अवतार है। राजा ने अपना माथा गुणाढ्य के चरणों में रखा। तब उसने कहा कि श्री शंकर ने अपने मुख से जो कथा सुनाई है, वह मुझे सुनाइए। गुणाढ्य ने कहा– 'हे राजा, मैंने तो सात लाख श्लोक भेजे थे किन्तु उनको आप द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। सात कथाओं में से 6 कथाएँ तो मैंने अब तक अग्नि को समर्पित करदी हैं। छः लाख श्लोक तो भस्म हो गए हैं। अब सातवीं कथा, एक लाख श्लोकों की शेष रह गई है। वह है। स्वीकार कर लें। मेरे शिष्य इसे संस्कृत में तुझे समझाकर कहेंगे। उसके बाद शेष कथा लेकर राजा लौट गया। बाद में उसने दोनों शिष्यों को बुलवाया। उनका सम्मान किया। गुणाढ्य ने तो बाद में समाधि ले ली थी। वह शापमुक्त हो गया था और उसे स्वर्ग का अपना पद मिल गया था। राजा ने शिष्यों से सारा वृत्त जानकर आरम्भ का कथापीठ लिखने को कहा। इस कथा पीठ के -लंबक के-आठ तरंग हैं। उन आठों तरंगों में से उपर दी गई कथा अंतिम आठवें तरंग की है।

राजा का वन में जाना, गुणाढ्य को कथावाचन करते सुनना और बृहत्कथा के पृष्ठों को अग्निकुण्ड में जलाते जाना और इसे लेकर सातवाहन राजा के मन का जो पश्चात्ताप वहां दिया गया है, वह भी एक कहानी ही है, क्योंकि यह निश्चय ही क्षेपक है जो बाद में जोड़ा गया। आर्य जाति का यह चरित्र है कि जिसे भी रचना, संरचना या विचार के क्षेत्र में सार्वजनिक स्वीकृति प्राप्त होती है और वे उससे घृणा करते हुए भी जब उस रचना या विचार को नकार नहीं पाते तो उसे मिथकीय स्वरूप देकर अपने वाङ्मय में सम्मिलित कर

लेते हैं। बिल्कुल यही बौद्ध धर्म के साथ नहीं हुआ था क्या? संसार जानता है कि सनातनी ब्राह्मण-वर्णवादी धर्म ने प्राचीन समय में बौद्ध धर्म (और जैन धर्म) का भी भीषण विरोध किया था। यहां तक कि शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म को देश-निकाला ही दे दिया था। भारत में तब वैदिक ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं के बीच धर्म युद्ध भी चले थे। तमाम बौद्ध विहारों और जैन पूजास्थलों को मंदिरों में परिवर्तित किया गया था। यहां तक कि बौद्ध और जैन धर्म के केन्द्र साकेत में आज कोई महत्वपूर्ण बौद्ध या जैन अवशेष नहीं मिलता। उसे सनातनी हिंदुओं की रामनगरी अयोध्या के रूप में स्थापित कर दिया गया। लेकिन फिर भी जब गौतम बुद्ध के बौद्ध धर्म को वे ब्राह्मणवादी आर्य नहीं मिटा पाये, गौतम बुद्ध को नहीं नकार पाये, तो उन्हीं गौतम बुद्ध को अपनी पौराणिक कथा-संस्कृति में विष्णु के आठवें अवतार के रूप में स्वीकृत कर लिया। बहरहाल .....

कथा संस्कृति पर बात करते हुए भाषा और उसकी उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि कहानियों ने हमेशा आम-आदमी, अपने समय के सर्व-साधारण व्यक्ति की भावनाओं और उद्‌भावनाओं को ही वाणी दी है। कहानी लगातार एक समसामयिक, समकालीन, सर्वसाधारण की अभिव्यक्ति का ही स्वर रही है। इसीलिए किसी भी दौर, जाति या समाज के सामान्य मनुष्य के जीवनगत-समाजगत सत्य को उस दौर की कहानियों के बिना नहीं समझा जा सकता। हर सदी के आम आदमी का इतिहास कहानियों में तलाशा जा सकता है। परन्तु भारत में साहित्य की एक कुलीन परम्परा हमेशा मौजूद रही है, जो जन साधारण की रचना, विधा और उसकी भाषा को कुलीनता के अहंकार में नकारती रही है।

भारतीय साहित्य की मुख्य धारा में विचार, सोच और रचना की स्वीकृति और अस्पृश्यता की यह परम्परा सदियों पुरानी है। साहित्य की सत्ता में दखल रखने वाले ऋषियों, मनीषियों और ग्रंथकारों ने अपनी भाषाई और यथास्थितिवादी वैचारिक दुनिया निर्मित कर ली थी, साहित्य का सौंदर्यशास्त्र बना लिया था और जो उससे अलग और असहमत होता था, वह अपनी भाषा सहित उनके लिए 'अछूत' बन जाता था। वैदिक साहित्य और वैदिक संस्कृत के दौर तक तो यह परम्परा अटूट चलती रही। वैदिक संहिताओं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तक तो वैदिक देवताओं की कहानियाँ और किंवदंतियाँ चलती रहीं, तब तक लौकिक संस्कृत भाषा का स्वरूप भी सामने नहीं आया था। पर आर्य मनीषी स्वयं वैदिक संस्कृत के स्वाभाविक विकास का रास्ता रोककर खड़े थे। यही रचना के क्षेत्र में हुआ। इन्द्र और अन्य वैदिक देवताओं के अलावा कुछ भी लिखना संभव नहीं था और वैदिक महापुरुषों के महानायकत्व से असहमत होना तब संभव नहीं था। तब तक धार्मिक, नैतिक और अलौकिक (जादुई) कहानियां तो लिखी जा सकती थीं पर लौकिक कहानियाँ (साहित्य) उसी तरह अवांछित, अलक्षित, अनपेक्षित और उपेक्षित थीं, जैसी कि आज के आधुनिक दौर में दिखाई देता है। महाभारत काल तक यथास्थितिवादी वैदिक साहित्य का और साथ ही भाषाई स्तर पर वैदिक संस्कृत का यह दौर अबाध रूप से चलता रहा। यह अलिखित, अकथित वर्जना केवल रचना के स्तर पर ही नहीं, भाषा के स्तर पर भी थी।

याद कीजिए नई कहानी के दौर के नये कथ्य और भाषाई क्षेत्रीयता की प्रयोगशीलता को। रेणु के 'मैला आंचल' के नये और अछूते यथार्थवादी राजनीतिक कथ्य को, उसकी भाषाई क्षेत्रीयता के कारण साहित्य के सौंदर्यशास्त्रियों और यथास्थितिवादियों ने लगभग खारिज कर दिया था। यहां तक कि बाबू शिवपूजन सहाय की 'ग्रामीण दुनिया' और नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' और 'बलचनमा' को फोकस में नहीं आने दिया गया था। क्योंकि उन रचनाओं का कथ्य और उनकी भाषा उस समय के रूढ़ साहित्य शास्त्रियों को स्वीकार नहीं थी।

लगभग ऐसा ही दौर तब भी वैदिक कथा वाङ्मय और संस्कृत भाषा को लेकर चल रहा था। उस दौर को देखें तो महाभारत के पश्चात् भारतीय कथा परम्परा में गुणाढ्य की महास्रोतस्विनी 'बृहत्कथा' के रूप में सामने आई थी। यह लौकिक कथाओं का महासागर था। उद्‌भट विद्वान राधावल्लभ त्रिपाठी के शब्दों में - 'बृहत्कथा में कहानी ने अपना सहज (लौकिक) रूप पाया, वह जन-जन के मन में रमी। समाज में कही-सुनी जाने वाली कथाओं से जुड़कर आगे बढ़ी। रामायण और महाभारत के पश्चात् बृहत्कथा कदाचित भारतीय साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित और अनुप्रमाणित करने वाला ग्रन्थ है।' गुणाढ्य ने कथ्य और भाषा की समस्त वर्जनाओं को तोड़ दिया था। गुणाढ्य की कथाएँ वैदिक नहीं लौकिक

थीं और उनकी भाषा वैदिक संस्कृत नहीं, लौकिक संस्कृत पैशाची थी। वही शिवपूजन सहाय, नागार्जुन और रेणु की तरह।

शायद यहां यह बताने की जरूरत नहीं कि गुणाढ्य की बृहत्कथा भारत का पहला ग्रन्थ है जिसके कारण भारत दुनिया का पहला कथापीठ बन पाया। क्षेमेंद्र तथा सोमदेव ने सारी प्रेरणा गुणाढ्य से ही प्राप्त की है। इसे जोर देकर कहने में कोई दोष नहीं है कि आर्य जाति की एक बड़ी विशेषता है, वह यह कि वे जिसे तोड़ नहीं पाते या नकार नहीं पाते उसे बाद में अपने अवतारवादी मिथकीय साहित्य का हिस्सा बनाकर स्वीकार कर लेते हैं। शुरू-शुरू में तो गुणाढ्य को नकारा ही नहीं बल्कि धिक्कारा गया। उन्हें सदियों उपेक्षित रखा गया, क्योंकि वे ब्राह्मण-पौराणिक साहित्य के अनुगामी नहीं थे। वे मौलिक और परम्परा से अलग थे। अत: वैदिक व्यवस्था और विद्वान गुणाढ्य को मंजूर नहीं कर पा रहे थे। वैदिक साहित्य ने उन्हें लगभग अछूत और अवांछित मान रखा था। उनकी लौकिकताधर्मी कहानियों की तो बात ही छोड़िए, उनकी भाषा लौकिक संस्कृत (पैशाची) तक को वैदिक विद्वानों ने मंजूर नहीं किया था।

परिवर्तनधर्मी, गुणाढ्य और उनकी भाषा के प्रति वैदिक व्यवस्थावादियों में इतनी हिकारत थी कि उनकी सहज लौकिक संस्कृत को उन्होंने पैशाची नाम दे दिया था। यानी पिशाचों की भाषा। कथ्य को नकारने के लिए वैदिक विद्वानों ने लौकिक भाषा को खारिज कर दिया था, क्योंकि वे व्यवस्थावादी-यथास्थितिवादी आर्य बदलने और नव्य को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे और यह तब था जब कि बौद्ध और जैन धर्म वैदिक धर्म की जड़ता से विद्रोह करके सामने आ चुके और स्थापित हो चुके थे। बौद्ध पाली भाषा और जैन प्राकृत भाषा को अपना चुके थे। आठवीं सदी तक संस्कृत अव्यवहृत हो चुकी थी।

गुणाढ्य की ईसा से एक सदी पहले की बृहत्कथा से ही क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा मंजरी' और सोमदेव की 'कथा सरित्सागर' (दसवीं-ग्यारहवीं सदी) नि:सृत हैं। आखिरकार अहंकारी वैदिक ब्राह्मणों को बृहत्कथा के कई अनुवाद संस्कृत में करने पड़े। जिस भाषा का तिरस्कार वैदिक साहित्यकारों ने किया उसका भौगोलिक क्षेत्र वैदिक संस्कृत से लगभग पच्चीस गुना ज्यादा विस्तृत था। वह चीनी तुर्किस्तान से लेकर ईरान, सिंधुघाटी, मथुरा और विंध्याचल तक फैली थी। सातवाहन राजाओं के काल तक वैदिक संस्कृत का क्षेत्र बहुत सीमित हो चुका था। वह सर्व साधारण के लिए पठनीय नहीं रह गई थी। संस्कृत काव्य रचना सूख चुकी थी लेकिन भाषाई और बौद्धिक अहंकार की स्थिति भयानक थी।

गुणाढ्य और उनकी कालजयी रचना 'बृहत्कथा' के साथ वही व्यवहार किया गया जो दो-तीन दशक पहले दलित रचना के साथ किया गया और अब भी भाषाई संस्कारशीलता का सवाल उठाकर आदिवासी-जनजातीय रचना के साथ किया जा रहा है। हालांकि जिस प्राकृत को हिकारत से पैशाची कहा गया, और आज जिसका नामोनिशान तक बाकी नहीं है, वह बहुत बड़े भूभाग की भाषा थी और मौलिक कथा रचना उसी पैशाची प्राकृत में हो रही थी। वैदिक और लौकिक संस्कृत से कितना विराट और विस्तृत था भारतीय कथा-भाषा का यह क्षेत्र, यहां डॉ. राजमल बोरा के इस विवरण से स्पष्ट है :

'प्रस्तुत प्रसंग में इतना कहना है कि ईरान का सम्बन्ध मगध तक था और वहां के मग कबीले के लोग पेशावर पहुंच गये थे और राज्य करते थे। इन मगों को दारयवहु ने परास्त किया और वहां पर अपना राज्य स्थापित किया। पेशावर के मगों की राजभाषा पैशाची रही है। यह पैशाची, वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। इस भाषा को उस समय खरोष्टी लिपि में लिखा जाता था। ईरान व उसके पूर्व के देशों में- सिन्धु नदी के तट तक के देशों में- खरोष्टी लिपि का प्रचलन था। पैशाची में उस समय जो लिखा गया, वह सब खरोष्टी में लिखा जाता होगा। उक्त लिपि को नकारा गया, उसे ठीक से पढ़ा नहीं गया- इसीलिए पैशाची के लोक-वाङ्मय का लोप हुआ है। हम देखते हैं कि बौद्धकाल में पैशाची का व्यवहार लोकभाषा- (सम्पर्क भाषा के रूप में) भारत में होने लगा था। उस भाषा के महत्व को प्राकृत भाषा के व्याकरण लिखने वालों ने जान लिया और उसका अलग से उल्लेख अपने व्याकरण ग्रन्थों में किया। यह इस बात का सबूत है कि पैशाची अपने समय की जीवंत भाषा थी, पैशाची का भौगोलिक विस्तार बहुत बड़े भूभाग तक मानना पड़ता है। सिन्धु नदी के तट तक तो उसका विस्तार था ही। सिन्धु नदी के पूर्व में जमुना तक शौरसेनी का विस्तार था। इस तरह पैशाची, शौरसेनी का संस्कार

भी प्राप्त कर रही थी। ओड़ीसा के भाषा विज्ञानी मार्कण्डेय के अनुसार पैशाची के तीन प्रधान भेद बतलाए गए हैं, उनमें कैकेय के बाद दूसरा भेद शौरसेनी पैशाची का है। तीसरा भेद पांचाल पैशाची का है। यह सर्व साधारण की भाषा बन चुकी थी।'

विशेष बात यह है कि संस्कृत पण्डितों द्वारा पैशाची को अन्य भाषाओं से अलग बतलाया गया है। गुणाढ्य की पैशाची को इसी तरह अलग माना गया है। ब्राह्मण विद्वानों द्वारा प्राकृतों में उसकी गणना नहीं की गई। प्राकृत के रूपों का जैसे सम्मान हुआ है, वह सम्मान पैशाची को नहीं मिला। पेशावर, चीनी, तुर्किस्तान, ईरान में जो सम्मान पैशाची को मिला, वह सम्मान भी पैशाची को भारत में नहीं मिला। विशेष रूप से गुणाढ्य के काल में उसे सम्मान नहीं मिला। बाद में विद्वान भूल गए कि पैशाची कैकेय की मुख्य भाषा है और शौरसेनी से उसका निकटतम लेन-देन रहा है। वे उसे विन्ध्याचल के पास की भाषा मानने लगे। पिशाच भाषा कहने लगे। राजशेखर ने तो उसे भूत भाषा तक कह दिया है। यह सब क्यों हुआ?जिस भाषा के माध्यम से जैन धर्म का विस्तार देश में और बौद्ध धर्म का विस्तार मध्य एशिया के देशों एवं भाषा में हुआ, उसकी लोकप्रियता के कारण भारत में वैदिक संस्कृत के विद्वानों की विरक्ति धार्मिक मतभेदों के कारण और बढ़ गई।

परंतु इससे एक बड़ा तथ्य स्थापित होता है कि भाषा के साथ मात्र धर्म ही देश की सीमा के बाहर नहीं गया बल्कि वह कथा-परम्परा भी उन देशों में पहुंची जो धर्म और उसके प्रचारकों के सम्पर्क में आये। निश्चय ही आदान-प्रदान दोतरफा रहा होगा ....

जैन धर्म की कथाओं को लेकर स्थिति दूसरी ही रही है। जैन कथाओं के आगम ग्रंथ बहुत प्राचीन हैं। जो स्थान वैदिक साहित्य में वेद और बौद्ध साहित्य में त्रिपिटक का है, वही स्थान जैन साहित्य में आगमों का है। आगम ग्रन्थों में महावीर स्वामी के उपदेश तथा जैन संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली कथा-कहानियाँ संकलित हैं। आचार्य जगदीश चन्द्र जैन के शब्दों में 'जैन-परम्परा के अनुसार महावीर निर्वाण (ईसवी सन् के पूर्व 527) के 160 वर्ष पश्चात् (लगभग ईसवी सन् के 367 पूर्व) मगध देश में बहुत भारी दुष्काल पड़ा। जिसके फलस्वरूप जैन भिक्षुओं को अन्यत्र विहार करना पड़ा। दुष्काल समाप्त हो जाने पर जैन श्रमण पाटलिपुत्र (पटना) में एकत्रित हुए और यहां खण्ड-खण्ड करके ग्यारह अंगों का संकलन किया गया, बारहवां अंग किसी को स्मरण नहीं था इसलिए उसका संकलन नहीं किया जा सका। इस सम्मेलन को पाटलिपुत्र-वाचना के नाम से पुकारा जाता है। कुछ समय पश्चात् जब आगम-साहित्य का फिर विच्छेद होने लगा तो महावीर निर्वाण के 827 या 840 वर्ष बाद (ईसवी सन् के 300-313 पूर्व) जैन साधुओं के दूसरे सम्मेलन हुए। एक आर्यस्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में और दूसरा नागार्जुन सूरी की अध्यक्षता में बलभी में। मथुरा के सम्मेलन को माथुरी-वाचना के नाम से पुकारा जाता है। तत्पश्चात् लगभग 150 वर्ष बाद, महावीर निर्वाण के 980 या 993 वर्ष बाद (ईसवी सन् के 453-466 वर्ष) बलभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में साधुओं का चौथा सम्मेलन हुआ, जिसमें सुव्यवस्थित रूप से आगमों का अंतिम बार संकलन किया गया। इसे बलभी-वाचना के नाम से पुकारा जाता है। वर्तमान आगम इसी संकलना का रूप है।

जैन आगमों के उक्त तीन संकलनों के इतिहास से पता लगता है कि समय-समय पर आगम-साहित्य को काफी क्षति उठानी पड़ी, और यह साहित्य अपने मौलिक रूप में सुरक्षित नहीं रह सका। यही कारण मालूम होता है कि बौद्धों के विपुल साहित्य के मुकाबले में यह साहित्य बहुत न्यून है तथा इस साहित्य में विकार आ जाने से ही सम्भवत: दिगम्बर सम्प्रदाय ने इसे मान्यता देना अस्वीकार कर दिया। जो कुछ भी हो, इस समय तो जैनों के पास यही निधि अवशेष है जिसके सहारे जैन संस्कृति का ढाँचा तैयार किया जा सकता है। इन नष्ट-भ्रष्ट, छिन्न-विच्छन्न आगम ग्रन्थों में अब भी ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक इतनी विपुल सामग्री है कि उसके आधार पर भारत के प्राचीन इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय लिखा जा सकता है। आगम कथाओं के यह ग्रंथ मात्र कथा-ग्रंथ नहीं है, इनमें समाज-शास्त्रीय जानकारियों का विपुल खजाना भी मौजूद है। यह सामाजिक इतिहास के ग्रंथ भी सिद्ध हुए हैं।

ईसा के पूर्व लगभग चौथी शताब्दी से लेकर ईसवी सन् पांचवीं शताब्दी तक की भारत वर्ष की आर्थिक तथा सामाजिक दशा का चित्रण करने वाला यह कथा साहित्य अनेक दृष्टियों से महत्व का है। आगम ग्रंथों में जैन भिक्षुओं के आचार-विचारों का जो विस्तृत वर्णन है, वह बौद्धों के धम्मपद, सुत्तनिपात तथा महाभारत

(शान्तिपर्व) आदि ग्रन्थों से बहुत अंशों में मेल खाता है, और डॉ. विण्टरनित्ज आदि विद्वानों के कथनानुसार यह श्रमण-काव्य का प्रतीक है। भाषा और विषय आदि की दृष्टि से जैन आगमों का यह भाग सबसे प्राचीन मालूम होता है। डॉ. जैन के अनुसार :

''भगवती, कल्पसूत्र, आवोइय, ठाणांग, निरयावलि आदि ग्रंथों में भगवान महावीर, उनकी चर्या, उनके उपदेशों तथा तत्कालीन राजा, राजकुमार और उनके युद्ध आदि का विस्तृत वर्णन है, जिससे जैन इतिहास की लुप्तप्राय अनेक अनुश्रुतियों का पता लगता है। नायाधम्मकहा, उवासगदसा, अन्तगडदसा, अनुत्तरोवबाइयदसा, विवागसुय आदि ग्रंथों में महावीर द्वारा कही हुई अनेक कथा-कहानियां तथा उनकी अनेक शिष्य-शिष्याओं का वर्णन है, जिससे जैन परम्परा संबंधी अनेक बातों का परिचय मिलता है। रायपसेणिय, जीवाभिगम, पन्नवणा आदि अन्य ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र, संगीत, वनस्पति आदि संबंधी अनेक महत्वपूर्ण विषयों का वर्णन है जो प्राय: अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।''

अत: यह कहा जा सकता है कि भारतीय कहानियों की परंपरा मात्र, धार्मिक, नैतिक और प्रचारवादी नहीं थी। उन कथाओं में हमें तत्कालीन समय के आचार-व्यवहार, शिष्टाचार, सामाजिक, सांस्कृतिक संकेत और विवरण भी मिलते हैं जो मात्र उपदेश या मनोरंजन तक सीमित नहीं रहते बल्कि वे अपने समय की सभ्यतागत व्यावहारिक जानकारियों के साथ-साथ समाज में किये जा रहे, व्यावहारिक, वैचारिक, और मनुष्य के विकसित होते जीवन का प्रामाणिक परिचय भी दे रहे थे।

सही पूछिए तो हमारी कथा की लौकिक परंपरा संस्कृत में उतनी नहीं है जितनी कि पाली और प्राकृत में मौजूद है। इसमें भी सबसे बड़ा कथा भण्डार पैशाची प्राकृत में मौजूद रहा। डॉ. राजमल बोरा के अनुसार –

''पैशाची भाषा भारत की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। वह वैदिक संस्कृति की समकालीन और लोक व्यवहार की भाषा रही है। वैदिक काल में, वैदिक संस्कृत का व्यवहार करने वाले ऋषि मुनि भी लोक-व्यवहार में बोलचाल में, पैशाची का उपयोग करते थे। वैदिक भाषा का जहाँ-जहाँ उपयोग होता था या उसका अपना जो भौगोलिक क्षेत्र था, उस क्षेत्र में पैशाची लोकभाषा के रूप में प्रचलित रही है। दरद परिवार का भौगोलिक क्षेत्र पैशाची का क्षेत्र रहा है। इस तरह से विचार करें तो पैशाची दरदीय परिवार की प्रमुख भाषा हो जाएगी। पहले दरदीय भाषाओं पर विचार करते समय ग्रियर्सन ने दरद परिवार के विकल्प में पैशाची परिवार, नामकरण करना चाहा था किंतु पैशाची के प्रति लोक भावना को देखकर उक्त नामकरण नहीं किया। ग्रियर्सन ने तो कश्मीरी को दरद परिवार की भाषा कहा है और इस नाते से कश्मीरी का भौगोलिक क्षेत्र पैशाची का भी भौगोलिक क्षेत्र हो जाता है। कश्मीर से हिमालय के पश्चिम में और गान्धार से आगे ईरान की सीमाओं तक और दक्षिण में सिन्ध तक पैशाची भाषा का भौगोलिक विस्तार लोक व्यवहार की भाषा के रूप में हो गया था। सातवाहन वंश के राजाओं के काल में वह भाषा मध्य देश में मगध की सीमाओं तक पहुंची है और बाद में सातवाहनों के दरबार में भी पहुंची। पैशाची में लोक-वाङ्मय का विपुल लेखन हुआ है किन्तु वह सब लुप्त हो गया है। उस वाङ्मय में गुणाढ्य का नाम लिया जाता है। पैशाची में लिखी कथाओं का संस्कृत अनुवाद हमें प्राप्त है। मूल पैशाची का ग्रन्थ मिलता नहीं है। यों पैशाची का भौगोलिक क्षेत्र जितना व्यापक है, उतना ही उसका ऐतिहासिक काल भी वैदिक संस्कृत के काल से सातवाहन राजाओं के काल तक व्याप्त रहा है। मार्कण्डेय, हेमचन्द्र और राजशेखर ने अपने ग्रंथों में पैशाची का उल्लेख किया है। ग्रियर्सन ने भी पैशाची भाषा पर स्वतंत्र पुस्तक लिखी है। संस्कृत व्याकरण के ग्रंथों की तरह बाद में जब प्राकृत के ग्रन्थ लिखे जाने लगे, उस समय प्राकृतों के विविध भेद बतलाते समय पैशाची को भी जोड़ा जाने लगा। यह प्रक्रिया हेमचन्द्र के काल तक चली आई है और बाद में मार्कण्डेय ने भी पैशाची भाषा पर विचार किया है। पैशाची का उपयोग व्यवहार में करने पर भी उक्त भाषा के प्रति भावना अच्छी नहीं रही है। उक्त भाषा की ऐतिहासिक काल में उपेक्षा होती रही है। इसी से वह लुप्त होती गई।''

पाठकों को यह फिर बताना जरूरी है कि जिसे हम कथा-संस्कृति के रूप में मात्र भारतीय समझ रहे हैं वह कथा संस्कृति वैश्विक है। वास्तव में गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' वैश्विक कथा संस्कृति का स्रोत है। बृहत्कथा की कथा-शैली विलक्षण, अद्‌भुत ही नहीं बल्कि वह मूलतया प्रयोगधर्मी है। यह सच है कि पैशाची प्राकृत में लिखित बृहत्कथा लुप्त हो चुकी है। यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसके

कई अनुवाद वैदिक संस्कृत में हुए। क्षेमेन्द्र और सोमनाथ दोनों ही कश्मीर के थे, सोमनाथ ने ही बृहत्कथा का संस्कृत अनुवाद कथा-सरित्सागर के रूप में किया। यदि सोमनाथ कृत यह अनुवाद उपलब्ध न होता तो भारत की बहुमूल्य कथा-सम्पदा हमारे पास नहीं होती। बृहत्कथा का हमारी कथा परंपरा में कितना सम्मान और महत्व था, वह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृत के उद्भट विद्वानों ने बार-बार इस पैशाची कथाकृति का आदर से जिक्र किया है। सच पूछिए तो बृहत्कथा का सम्मान किसी भी रूप में महाभारत और रामायण से कम नहीं था। धार्मिक पक्ष की बात छोड़ दीजिए, लौकिक कथा रचना में बृहत्कथा रामायण और महाभारत से अधिक रोचक, परिपुष्ट और प्रयोगधर्मी है, इसकी शैली को नमन करना पड़ता है जिसमें से कहानियों में से कहानियाँ निकलती चली जाती हैं। सदियों बाद कथा-कथन की इसी शैली की अनुकृति अरेबियन नाइट्स' में की गई, जहाँ शहरजाद प्रत्येक रात एक अधूरी कहानी सुनाती है और उसे एक ऐसे उत्सुकता भरे बिंदु पर छोड़ देती है जहाँ से सुलतान शहरयार कहानी समाप्त होने की प्रतीक्षा करता है और कथा सुनाने वाली शहरजाद की जान प्रत्येक रात बचती जाती है। 'अरेबियन-नाइट्स' की इस अद्भुत कथा शैली का जनक कथाकार गुणाढ्य था! गुणाढ्य की इस विलक्षण कथा-शैली का उपयोग जैन आगम कथाओं की एक कहानी 'चतुराई का मूल्य' में भी हुआ है जिसमें उसकी पात्र कनक मंजरी 'अरेबियन-नाइट्स' की शहरजाद की ही तरह एक उत्सुकतापूर्ण अधूरी कहानी ही सुनाती है। जाहिर है कि गुणाढ्य और जैन आगमकथा 'चतुराई का मूल्य' की विलक्षण शैली 'अरेबियन-नाइट्स' के लिखे जाने से सदियों पहले विकसित की जा चुकी थी। शहरजाद से संबंधित इस विलक्षण कथा शैली की रचनात्मक विशेषता को जनाब इंतजार हुसैन के आलेख-'आधुनिक कहानी की रचना संस्कृति में देखा, परखा और जाना जा सकता है। वैसे पंचतंत्र तथा संस्कृत के अन्य कथा ग्रंथों में भी कहानी की इस अद्भुत शैली का प्रयोग हुआ है।

बृहत्कथा की कथाकथन की इसी समृद्ध परम्परा का लगातार उपयोग हमारी लोक कथाओं में भी हुआ है। बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि वे रचनाएं हैं जो बृहत्कथा से सीधी प्रभावित या विकसित हैं। यह था हमारी कथा परंपरा का लौकिक लोक-वाङ्मय जो घरों से लेकर लोकोक्तियों तक फैला हुआ है। बैताल-पच्चीसी के तो कई रूप और संस्करण मिलते हैं जो सोमनाथ और क्षेमेंद्र की कथा रचनाओं में भी शामिल हैं। किस्सा तोता-मैना भी ऐसी ही लोककथा है जो प्रेमी-प्रेमिका, पति-पत्नी के बीच उद्बोधन की शैली में रचित है। इसके अतिरिक्त 'शुक सप्तति' में तोता एक सौदागर की पत्नी प्रभावती को सत्तर बोध कथाएं सुनाता है ......।

विश्वकथा परिदृश्य पर यदि देखें तो यह निर्विवाद रूप से स्थापित है कि सिंदबाद जहाजी की कथा, ईसप और बोकोशियो की कथाएं, 'कलेला दमना की कथाएँ' आदि अरब देशों से होती हुई पूरी दुनियां में पहुंची हैं। इनसे ग्रीस, रोम, अरब देश, फारस और अफ्रीका महाद्वीप भी अछूते नहीं रह पाये।

ये कहानियाँ हमारी सांस्कृतिक विरासत हैं जो वैश्विक कथा सभ्यता एवं संस्कृति का स्वरूप हमारे सामने रखती हैं। इन कहानियों ने लम्बी यात्रायें की हैं। इसका अकाट्य प्रमाण है हमारी जैन आगम कथाओं की प्रथम कहानी- 'चावल के पांच दाने', जो बाइबिल की चौथी कहानी है, यह सेंट मैथ्यू की सुवार्ता 25 और सेंट ल्यूक की सुवार्ता 19 में भी लगभग ज्यों की त्यों मौजूद है।

इसी तरह, 'बिना विचार करने का फल', 'छोटो के बड़े काम', 'भिखारी का सपना', 'चतुर रोहक' आदि कथाएं कुछ रूपांतर के साथ सर्वसाधारण में प्रचलित हैं, जिनका किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध नहीं। ये लोककथाएँ भारतवर्ष में पंचतंत्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर, शुकसप्तति सिंहासनबत्तीसी, बैतालपच्चीसी आदि ग्रन्थों में पायी जाती हैं तथा ईसप की कहानियाँ', 'अरेबियन नाइट्स की कहानियाँ', 'कलेला दमना की कहानी' आदि के रूप में ग्रीस, रोम, अरब, फारस, अफ्रीका आदि सुदूर देशों में भी पहुंची हैं। इन कथाओं का उद्गम-स्थान साधारणतया भारतवर्ष माना जाता है, यद्यपि समय-समय पर अन्य देशों से भी, देश-विदेश के यात्री बहुत-सी कथा-कहानियाँ अपने साथ भारत लाते रहे हैं।

– कमलेश्वर

5/116, एरोस गार्डन, सूरज कुण्ड रोड

दिल्ली फरीदाबाद बार्डर, नई दिल्ली110044

- प्रो. लोकेश चन्द्र

मानव-संस्कृति को भारत का अवदान

नई शताब्दी और नई सहस्राब्दी के कगार पर खड़े हमें विहंगावलोकन करने की आवश्यकता है। इस शती में अस्मिता की नई खोज है। हमारी क्या अस्मिता रही और हमने विश्व को योगदान करके अपना जो विशिष्ट स्थान बनाया क्या वह आगे नए आयाम दे पाएगा। भारत को चिंतन में स्वयंभूत आयाम प्रशस्त करने होंगे। अन्यथा हम अनुकृति के लिए विवश हो जाएंगे।

भारत का मानव-चिंतन में सबसे विशेष अवदान भाषा है। संस्कृत परिवार की समस्त भाषाओं में विराट् शब्दावली का सृजन हुआ। यह जीवन की आवश्यकताओं से बढ़कर मनन की शब्दराशि का प्रवाह बना। उपसर्गों से भाषा में विलक्षण सम्पदा का सृजन हुआ- जैसे लैटिन द्वारा in-spect, pro-spect, re-spect आदि। यदि योरोपीय भाषाएं संस्कृत के उपसर्गों और प्रत्ययों से लाभान्वित नहीं होतीं तो वे बोलियां मात्र रह जातीं। प्रत्ययों से भी संज्ञाओं और धातुओं की अभिव्यक्ति बढ़ी। भाषा के संस्कार के बिना आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास संभव न हो पाता।

आल्ची विहार की भित्ति से दुर्गोत्तारिणी तारा का चित्रांकन।

समस्त योरोपीय भाषाओं की गिनती संस्कृत से है। हजार के लिए 'सहस्र' शक्ति का द्योतक है। सहस् से साहस बनता है। सब जानते हैं कि शून्य और उसके लिखने का प्रतीक भारत की देन है। शून्य के बिना आज का संगणक आदि का विज्ञान असंभव था।

जब केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रो. रथफोर्ड ने परमाणु का विखण्डन किया, तब प्रो. कीथ ने ऑक्सफोर्ड विष्ठवविद्यालय से 'भारतीय परमाणुवाद' पर पुस्तक छापकर प्रमाणित किया कि परमाणु की सबसे पुरातन कल्पना वैशेषिक दर्शन में है और आज से 3000 वर्ष पहले भारत में इस आधारभूत तत्व की मीमांसा की गई थी। आधुनिक भौतिकी के प्रवर्तकों में वरेण्य प्रो. श्रोडिंगर और ग्योटिंगन विश्वविद्यालय के हाइजन्बर्ग ने भारतीय दर्शन के प्रभाव को स्पष्टत: स्वीकार किया है। दोनों नोबल- पुरस्कार विजेता थे।

गन्ने से गुड़ और शक्कर का उत्पादन आर्यावर्त के इक्षुक्षेत्र की देन है। प्राचीन काल में मिठास के लिए मधु का मुख्यत: प्रयोग किया जाता था। जब गन्ने से शक्कर का आविष्कार हुआ तब भारत से विश्व में नई मधुरिमा का प्रसार हुआ। इसके कारण अयोध्या नगरी अजेय और सुसम्पन्न होती गई। यहां के सम्राट् भगवान राम की कीर्ति चारों ओर फैली। पारसियों के अवेस्ता धर्मग्रन्थ में 'ह्वस्त्र राम' का उल्लेख है। 'ह्वस्त्र राम' का अर्थ 'स्वस्त्र राम' अर्थात् उत्तम शस्त्रों से सज्जित राम है। गन्ना भारत में जंगली पौधे के रूप में उगता था और वनस्पति वैज्ञानिकों का कहना है कि यह पौधा मूल रूप से भारत में होता था। यहां से शर्करा शब्द ग्रीक, रोमन, फारसी और अरबी भाषाओं में गया। पहली शताब्दी के ग्रीक और लैटिन ग्रन्थों में 'साखारोन्' एक प्रकार का मधु है जो भारत में है, नमक के समान होता है और दांतों से चबाया जाता है। प्लिनी ने लिखा है कि भारत में शर्करा एक प्रकार का मधु है, जो बांस से मधुमक्खियों के बिना पाया जाता है। चीन में शर्करा को 'शि-मि' (पाषाण-मधु) कहते थे। पाषाण का अर्थ कंकड़ अथवा कणात्मक है। सन् 285 में कम्बुज देश ने पहली बार चीन को गन्ने उपहार-स्वरूप भेजे थे। सन् 647 में चीन के सम्राट् थाई-त्सुङ् ने मगध में भारतीय शर्करा-निर्माण की पद्धति सीखने के लिए शिष्टमंडल भेजा था। जब अरब सेनाओं ने ईरान को सन् 640 में पराजित करके धर्मांतरित किया, तब सर्वप्रथम ईरान से शर्करा-निर्माण ले गए। ईरान में शर्करा का उत्पादन भारत से बहुत प्राचीन काल में गया था।

कपास और सूती वस्त्र सर्वप्रथम भारत में प्रचलित हुए। ये 5000 वर्ष पूर्व मोहेंजोदाड़ो की खुदाई से मिले हैं। ऋग्वेद में भी कपास से बने कपड़े का उल्लेख है। ग्रीक इतिहासकार हीरोडोटस लिखते हैं कि भारत की महिलाएं बीजों से कपास बिनती हैं, उसका सूत कातती हैं और भव्य वस्त्र बनाती हैं। मिश्र की ममी भारतीय सूती वस्त्रों में सहस्रों वर्षों से सुरक्षित हैं। सन् 600-700 के बीच मिश्र में कपास की खेती प्रारम्भ हुई। यूनान में भारतीय राज्य थे, संस्कृत के शिलालेख उपलब्ध हैं, महाराजाओं के संस्कृत नाम थे। यूनान से चीन में कपास की खेती 2200 वर्ष बाद पहुंची थी। चीनी इतिहास लिखते हैं कि युन्नान के नान्चाओ राज्य में रेशमी कीड़ों से नहीं अपितु पौधों के बीजों से वस्त्र बनाया जाता है। चीनी इतिहासों में इस वस्त्र को कुपेई (= कर्पास) अथवा तुलो (=तूल) कहा गया है। आज भी अंग्रेजी में Cotton wool कहते हैं। क्योंकि योरोपीय जातियां पशुओं के बालों से प्राप्त ऊन (wool) के वस्त्र पहनती थीं और उनके लिए सूती कपड़े भी ऊन के प्रकार के थे।

इस प्रकार भारत ने मानव-जीवन में मौलिक योगदान किया है। तन को ढँकने के लिए सूती कपड़े, स्वर्गारोहण के लिए-मिश्र में शवावरण के लिए सूती मलमल जो औषधों से ओतप्रोत होकर भौतिक काया को सहस्रों वर्षों तक रखती थी। दक्षिण चीन की उष्णता से बचाने के लिए सूती परिधान, ... भारत की देन है। मुख मीठा करने के लिए शर्करा और उससे प्राप्त धन से अजेय अयोध्या और उसके आदर्श राजा भगवान राम की चिरजीविनी कल्पनाएं एशिया को विधि-व्यवस्था देती आई हैं। जबकि ग्रीस और चीन में गणना की चरम सीमा 10,000 (दस सहस्र) थी, वहाँ भारत ने शून्य से अनंत की परिकल्पना की। शून्य चिह्न और उसका दार्शनिक एवं गणितीय परिकल्पन मानव-जाति के अनुपम विकास का कारण बना। संस्कृत भाषा की विराट् चिंतन-धारा जिसमें असत् से सत् (शून्य से अस्ति) ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में प्रस्फुटित होता है- सतो बन्धुमसति निरविन्दन्। संस्कृत भाषा, तज्जन्य संस्कृति, और उससे अनुप्राणित संस्कार- सब नदी तटों पर, घनघोर अरण्यों में जन्मे थे। संस्कृत, संस्कृति और संस्कार की त्रिवेणी बहते प्रवाह की सखी थी। नदी का पानी बहता है और इसके लिए दो तटों की आवश्यकता होती है। संस्कार-धातु में ये तट मर्यादाएं हैं और बहता पानी सतत् परिवर्तनशील मूल्यों की भूमिका है। पानी, प्रवाह, तट खुलेपन के प्रतीक हैं। गतिशीलता और प्रगति के आधार हैं। कुछ संस्कृतियां मरुभूमि की पुत्रियां हैं। मरुभूमि विराट् एकरूप है। दिन में झुलसाने वाली रेत और रात को घातक शीत से ग्रस्त। इससे कविता का उद्भव हुआ।

चीन की तुनह्वाङ् गुहाओं से माल्या देवी का भित्ति चित्र

आज का मानव कट्टरता से, आतंक से, हिंसा से त्रस्त है। ये सब दुर्गुण और संकट विशिष्ट दर्शन के परिणाम हैं। भारतीय दर्शन से तो संतप्त मानव नई सम्यग् दृष्टि प्राप्त कर सकता है। यह बारह -सूत्री ब्रह्मजाल इस प्रकार हो सकता है-

1. विविधता ही प्रकृति का ऋत है।
2. नदी-प्रवाह और प्रकृति परिवर्तन है।
3. एक केन्द्रीयता नहीं, अपितु बहु-केन्द्रीयता चाहिए।
4. आदेशना (revelation) के स्थान पर साधना।
5. कट्टर आदेश नहीं, परन्तु ब्रह्म-जिज्ञासा।
6. निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष तत्वज्ञान।
7. जिजीविषा और जिज्ञासा
8. धर्म-दुर्ग नहीं, अपितु ध्यान के तपोवन
9. मानव अधिकारों के साथ मानवीय कर्तव्य एवं मूल्य
10. सीमाओं में बंदी मन नहीं, क्षितिजों को खोजती चेतना
11. शास्त्रों का शाब्दिक निर्वचन नहीं, परन्तु मूल्यपरक दिक्काल-अनुकूल निर्वचन
12. पश्चिम की दर्शन-भूमिकाओं से पार (पार संगते बोधि स्वाहा)।

- प्रो. लोकेश चन्द्र

सांसद राज्य सभा (1974-88)

जे.-22, हौज खास एन्कलेव, नई दिल्ली-110016

– प्रयाग शुक्ल

कला जो कल भी रहेगी

हाँ, वह कल भी रहेगी। ऐसा मानने का एक प्रमुख कारण तो यही है कि कला हर तरह से मनुष्य-जाति के साथ बँध गयी है और जब तक मनुष्य है तब तक वह रहेगी ही रहेगी। ऐसा कहते ही मानों इस वक्तव्य में एक शुभाशंसा भी शामिल हो गयी है कि कला ही नहीं, मनुष्य जाति भी हर आने वाले कल में बची रहेगी। यह भुलाया नहीं जा सकता कि मनुष्य के बचे रहने में, और मनुष्य के मनुष्य रूप में बचे रहने में, कला ने एक बड़ी भूमिका निभायी है। तो फिर मनुष्य कला को बचाना ही चाहेगा, अपने हित में। इसलिए भी कला बची रहेगी।

समाज चाहे आदिवासी हो, या लोक या नागर अथवा प्रौद्योगिक-कला का स्थान हर तरह के समाज में रहा है, और है। इन सभी तरह के समाजों में कला की परंपराएँ भी बनीं, और विकसित हुई हैं। चित्र की, मूर्ति की, चित्रात्मक सज्जा की, रचना-सामग्री खोजी गयी हैं, इन्हें रचने की विधियाँ ढूँढी गयी हैं; चित्र और मूर्ति की भाषाएँ विकसित हुई हैं और अपने-अपने समय में कलाकारों ने कभी सामूहिक-सम्मिलित रूप से, और कभी निजी, वैयक्तिक, एकल स्तर पर स्वयं कला-रचना का एक अनोखा, अपूर्व मानक तैयार किया और रचा है तथा मनुष्य समाज को सौंपा है। अजंता के कलाकारों को, और पाब्लो पिकासो जैसे कलाकारों को हम इसी बात का उदाहरण मान सकते हैं। और जाहिर है कि ये अकेले उदाहरण नहीं हैं, वे तो अनगिनत हैं। कला का संसार विपुल है।

यह अकारण नहीं है कि प्राय: हर तरह के समाज में व्यंजन बनाने को, परिधानों को, गृज-सज्जा को, बागवानी आदि को भी कला का दरजा हासिल

> “आकारों में जो विचार हमें दिखते हैं, मिलते हैं, वे किसी चिंतनशीलता या चिंतन प्रक्रिया का ही फल या गुणनफल होते हैं और कई बार तो स्वयं रचना-प्रक्रिया के दौरान कोई विचार, जैसे चुपचाप किसी आकार में ढल जाता है, विन्यस्त हो जाता है, किसी रंग और रेखा में। मामला लगभग कविता वाला ही है।”

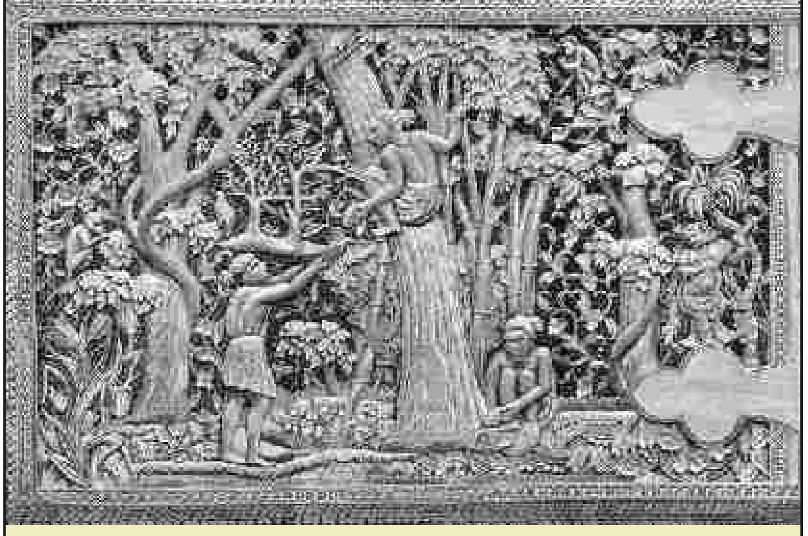

काष्ठ-शिल्प, 19वीं शती

रहा है और जीवन के तमाम तरह के कार्य-व्यापारों में कलात्मकता जाँची और परखी गयी है। लोक और आदिवासी कलाओं में तो कई बार स्वयं जीवन के इन्हीं कार्य-व्यापारों को चित्रकला में चित्रित किया जाता रहा है और उनमें जब-जब देवी-देवता, या पौराणिक आख्यानों के पात्र आदि भी चित्रित किये गये हैं, तो उनमें भी जीवन के ही तमाम कार्य-व्यापारों को, अनुष्ठानों को एक नये राग-बंध में बाँधा गया है। मिथिलांचल की मधुबनी और महाराष्ट्र की *वरली*, लोक-आदिवासी शैलियों को हम इस रूप में भी देख और सराह सकते हैं। *वरली* में तो जीवन का हर कार्य-व्यापार मानों अनिवार्य रूप से चित्रित किया जाता रहा है और मधुबनी में राम-सीता स्वयंवर जैसे कई विषय इस सिलसिले में उल्लेखनीय हैं। हमारे देश में लोक और आदिवासी कला की परंपराएं तो इतनी सबल रही हैं कि स्वयं हमारे आधुनिक कलाकारों ने इनसे एक संवाद चलाने की जरूरत समझी है। भारत में हस्तशिल्प और हुनर को भी कला जैसा ही सम्माननीय दरजा प्राप्त रहा है। अचरज नहीं कि *के.जी. सुब्रमण्यन* जैसे महत्वपूर्ण आधुनिक कलाकारों ने हस्तशिल्पों और हुनर वाले कामकाज से भी एक रिश्ता बनाया है, और अपनी रचना-विधियों, रचना-सामग्री और अपनी अभिव्यक्ति (यों) में इजाफ़ा किया है। कुंभकार हो या बुनकर या राजमिस्त्री और रंगरेज- इन सबकी दुनियां की ओर उनकी आँखें रही हैं और कुछ अरसा पहले राष्ट्रीय आधुनिक कला-संग्रहालय में आयोजित उनकी पुनरावलोकन प्रदर्शनी उनके इसी रुझान और लगाव का भी प्रमाण देकर गयी है। शायद ही ऐसी कोई विधि और रचना-सामग्री हो जो सुब्रमण्यन ने न बरती हो। यह भी अकारण नहीं है कि *स्वामीनाथन* हों या *रामचंद्रन* या *हाकु शाह* - हमारे कई उल्लेखनीय कलाकारों ने लोक से एक सीधा संबंध भी बनाया है, और स्वयं लोक और आदिवासी जीवन-चर्या में प्रवेश करने का एक उपक्रम किया है। जब भारत भवन की स्थापना हुई और स्वामी उसके संग्रहालय के निदेशक बने तो उन्होंने आधुनिक कला तथा लोक और आदिवासी कला के दो अलग-अलग संग्रहालय तो बनाये, पर उन्हें एक ही परिसर में, एक-दूसरे की निकटता में ही रखा और आग्रह किया कि आधुनिक कलाकारों और आधुनिक कला के प्रवक्ताओं को, लोक और आदिवासी कला को एक नयी दृष्टि से देखना चाहिए और उनके बीच किसी ऊँच-नीच का श्रेणी विभाजन नहीं करना चाहिए।

दरअसल कला में ऐसा कोई स्पष्ट बँटवारा या ऊँच-नीच वाला श्रेणी विभाजन हो भी नहीं सकता और जहाँ तक कला की विभिन्न कोटियों या उसके विभिन्न रूपों का सवाल है तो उन सभी रूपों की प्रासंगिकता और अनिवार्यता तो स्वतः सिद्ध है। हम *अजंता-एलोरा, खजुराहो-महाबलिपुरम-साँची-कोणार्क* में कला ही देखने तो जाते हैं, और *हुसैन-सूज़ा-रज़ा* के काम में भी कला की ही खोज करते हैं और *मधुबनी-वरली* की कलाकृतियाँ हों, या नीलमणि देवी और सारा अब्राहम की माटी में की गयी रचनाएँ- वहां भी हम कला को ही सराहते-परखते हैं। और विभिन्न कला- रूपों और कलाकारों के बीच जो एक अनवरत लेन-देन चलता रहा है, वह भी इसी बात का संकेत है कि विभिन्न कला-रूप एक-दूसरे को

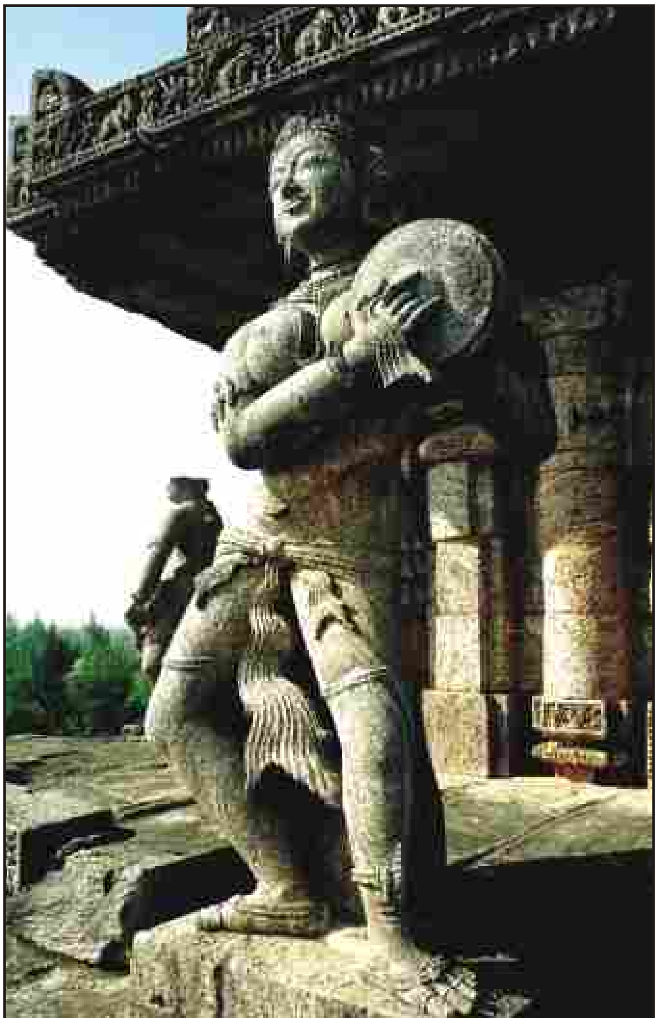

कोणार्क नर्तकी

प्रभावित करके, या एक-दूसरे से कुछ ग्रहण करके अपनी धार और चमक को बढ़ाते हैं और चित्र-भाषा तथा शिल्प-भाषा में कुछ नयी चीजें घटित होने की संभावना बनी रहती है। सो, पिकासो ने अफ्रीकी मुखौटों से प्रेरणा ग्रहण की, और हुसैन-सूज़ा ने मंदिर मूर्तिशिल्पों की त्रिभंग-मुद्राओं आदि से कुछ ग्रहण किया, और अपने आकारों-रेखाओं में एक नयी गति, और नये तेवरों की सृष्टि की। और जो दैनिक उपयोग की वस्तुएँ रही हैं, उनकी कलात्मकता को भी तो कलाकार और कला-प्रेमी सराहते ही रहे हैं। हमारे देश में घड़े-सुराहियाँ हों, या हाथ के पंखे, या पान-सुपारी का सामान रखने वाली थैलियाँ, या चूल्हे-चौके के उपकरण और बर्तन भांडे या हाथ के बुने हुए वस्त्र- सबमें एक समय सौंदर्य और कलात्मकता की खोज रही है।

कलात्मक सरौता

'अज्ञेय' की एक टीप है : ''उसने मुँदरी में से पूरी साड़ी गुजार दी और कहा, देखिए। मैंने साड़ी फैलायी और देखता रहा : कितने बेल-बूटे, फल-फूल, केरियाँ, कमल-वन, गुलाब-गाछी : और फिर जहाँ-तहां पशु-पक्षी-मोर-मुरैले, हंस, हाथी, हिरनों के जोड़े - और ये क्या हैं ?सांकेतिक बँगले या कुटीर ... एक साड़ी के फैलाव पर पूरा विश्व-दर्शन। कल्पना एक सरल ग्रामवासी की रही होगी, पर उस कल्पना ने खुलकर विहार किया था। यह वस्त्र बुनते समय मैंने श्रद्धा-भरे हाथों से उसकी सलवटें निकाल कर उसे सीधा किया कि सफाई से तहाया जा सके, कि उसने साड़ी अपनी ओर खींच ली और उसे समेटते हुए दोबारा कहा, देखिए और फिर सर्र से पूरी साड़ी अँगूठी में से गुजार दी।

और मैं नहीं सोच पा रहा कि किस से ज्यादा प्रभावित हूँ : साड़ी के फैलाव पर रचे गये जगत से, या मुंदरी के वृत्त में से उसके गुजार दिये जा सकने से।''

निश्चय ही किसी कला-वस्तु या कलात्मक वस्तु को देखकर हम कुछ विस्मित-चमत्कृत होते हैं, आँखें सौंदर्य के किसी नये इलाके में प्रवेश करती हैं और हम कला गुणों की पहचान और परख की ओर भी बढ़ते हैं। पर, पहली प्रतीति, पहली अनुभूति तो जो प्रत्यक्ष है, उसके सम्मोहन से ही बँधी होती है।

अब कुछ इस पर भी गौर करें कि हुनर तो निश्चय ही बड़ी चीज है, और बिना कलात्मकता-निपुणता के न तो कोई शिल्प सराहा जा सकता है, और न ही कोई ऐसी कला सराही जा सकती है, जिसे बनाने-गढ़ने-रचने में किसी न किसी हुनर की मदद न रही हो।

पर वह कौन सी भित्ति है, कौन सी चीज है, जो एक बहुत सुंदर तरीके से बनाये गये और चित्रित भी किये गये हाथ के पंखे को, अजंता की कला (अभिव्यक्ति) से अलग कर देती है, और हम दोनों को देखने-सराहने की दृष्टि में भी कुछ भेद करने के लिए बाध्य होते हैं।

जाहिर है कि यह भित्ति कल्पना की, विचार की, भावना की, और उन मानवीय अनुभवों की ही हो सकती है, जिसके आधार पर कोई कलाकृति सदियों खड़ी रहती है और अपने अर्थ, आशय, सौंदर्य आदि की व्याख्या-पुनर्व्याख्या की माँग करती रहती है, जैसे कि अजंता की अप्सरा, और अन्य कलाकृतियाँ आज भी करती हैं। इसी तरह विभिन्न मिनियेचर शैलियों के श्रेष्ठ नमूने भी तो सदियों से कला पारखियों के मन और बुद्धि को उलझाये हुए हैं और चोल-वंश के कांस्य मूर्तिशिल्प- जिनमें कई छोटे आकार में भी हैं- हम जितनी बार भी देखते हैं, देखते ही रह जाते हैं और हर बार पाते हैं कि जो भान हमें हो रहा है, जिन प्रतीतियों से हम गुजर रहे हैं, उसके पार अभी और भी बहुत कुछ है, जहाँ तक जाना है, अभी, या अगली बार।

दरअसल किसी भी अच्छी और टिकाऊ कलाकृति का आकार- या उसके कई आकार-विचार भी होते हैं। जरूरी नही कि ये विचार पूर्व निर्धारित हों, और फिर किसी कलाकृति में ढाल दिये गये हों। आकारों में जो विचार हमें दिखते हैं, मिलते हैं, वे किसी चिंतनशीलता या चिंतन

चोल-कांस्य मूर्तिशिल्प (कृष्ण)

प्रक्रिया का ही फल या गुणनफल होते हैं और कई बार तो स्वयं रचना-प्रक्रिया के दौरान कोई विचार, जैसे चुपचाप किसी आकार में ढल जाता है, विन्यस्त हो जाता है, किसी रंग और रेखा में। मामला लगभग कविता वाला ही है, जिसमें स्वयं कवि कविता लिखने से पूर्व ठीक-ठीक यह नहीं जानता कि कोई कविता अंततः कौन-सा रूप लेगी, या उसमें से क्या-क्या प्रकट होगा, और आगे भी होता रहेगा, उसी तरह कला और कलाकार के साथ भी है। कविता और कला की रचना-प्रक्रिया भी मानों एक सतत अनुसंधान ही है। वह किसी हद तक अंधेरे में छलांग भी है, पर ऐसी छलांग जो इस भरोसे और सामर्थ्य से की जाती है कि जिसके संकेत मिलते रहे हैं, उसे अंधेरे में भी ढूँढ लेना शायद संभव होगा। बहरहाल कला और कलाकृतियों को परखने की जो कसौटियाँ रही हैं, वह किसी भी कलाकृति में विचार, शिल्प निपुणता, अनुभव और सौंदर्य की ही खोज करती रही हैं और चूंकि कला, मनुष्य, प्रकृति, समाज से ही बंधी है, पर संबोधित वह केवल मनुष्य को ही है, इसलिए कलाकृतियों में परख इसकी भी होती रही है कि कला स्वयं मनुष्य की कल्पना, उसकी चाक्षुष और दिमागी भूख को जागृत और तृप्त करने में कितनी सक्षम है और वह उपजती भले किसी समाज विशेष के बीच से हो, पर संबोधित तो वह हर तरह के समाज में रहने वाले व्यक्ति को होती है, इसलिए परख इसकी भी की जाती है कि वह सार्वभौम स्तर पर भी किन ऊँचाइयों को छूती है। अगर अजंता को एक भारतीय, एक फ्रांसीसी, एक स्वीडी, एक जापानी भी सराहता है तो जाहिर है कि सिर्फ उसके किसी प्रचार के कारण ही नहीं, उसके कलात्मक गुणों के कारण ही, और उसमें व्यक्त 'विचार' के कारण भी।

अजंता:सौंदर्य की सार्वभौमिकता

यहां विचार से आशय किसी विचारधारा से उपजे हुए विचार से नहीं है, हालांकि कभी-कभी कोई विचारधारा भी कलाकार को किसी न किसी विचार से अनुप्राणित करती है और उसकी कला को उस विचारधारा की कसौटियों या परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है, जैसे कि नंदलाल बसु की कला में हम कभी-कभी गांधी-विचार का, स्वदेशी का, एक खास तरह का आलोक भी पा सकते हैं और मार्क्सवादी विचारधारा की कसौटियों या परख-पहचान वाले मानकों पर भी कलाकारों की कला को जाँचा-परखा गया ही है। पर यहां 'विचार' शब्द से हमारा मूल आशय यह है कि कला में सोच-विचार की भी एक जरूरी भूमिका रहती है और अच्छी कलाकृतियाँ किसी चीज का अंकन या हूबहू अंकन मात्र नहीं होतीं, वह कोई न कोई विचार-प्रक्रिया भी साथ लेकर चलती है। यह विचार कला रचना संबंधी भी हो सकता है और जीवन-जगत से प्राप्त किसी अनुभव या दृष्टि संबंधी भी। कला-रचना संबंधी विचारों या विचार-सरणियों ने ही तो घनवाद (क्यूबिज्म), इंप्रेशनिज्म, सररियलिज्म जैसे कई कला-आंदोलनों को गति दी है। इसके अलावा, कई बार स्वयं कलाकारों के निजी विचारों ने कला के, जीवन के, कुछ नये आयाम उद्घाटित किये हैं। आखिरकार, कांदिस्की, पाल क्ले, वॉन गो, जैक्सन पोलॉक जैसे कई कलाकारों के विचार उनके काम में भी विन्यस्त हैं, और कला-संबंधी उनके लिखित या दस्तावेजी विचारों में भी।

नंदलाल बसु

कला-संबंधी बहुतेरा लेखन इसका गवाह है कि स्वयं कला-इतिहासकारों और कला समीक्षकों-आलोचकों को बहुतेरे विचार और चिंतन-सूत्र कलाकारों के वक्तव्यों से भी मिलते रहे हैं। यह भी अकारण नहीं है कि कलाकृति के अच्छी-कालजयी / दीर्घजीवी आदि होने का एक प्रमाण यह भी माना जाता है कि वह

बराबर कुछ नये विचार भी हमें सौंपती रहती है। वह सिर्फ देखने की चीज नहीं बनी रहती, सोच-विचार का आधार भी बनी रहती है।

कला माध्यम की कुछ अन्य विशेषताएं हैं : कोई भी कलाकृति पुरानी होते ही मूल्यवान हो जाती है। ज्यों ही हम कहते-बताते हैं कि अमुक कलाकृति चार सौ बरस या हजार बरस पुरानी है, उसमें यह 'बीता काल' मानों प्रत्यक्ष हो उठता है, और उसे हम एक अन्य प्रकार की उत्सुकता से देखने लगते हैं : तो ऐसा था चार सौ या हजार साल पहले का रचना-विधान, और सामग्री भी तो देखो, कैसी टिकाऊ साबित हुई है और अगर उसका कोई अंश नष्ट भी हो गया है, तो जो बचा रह गया है वह भी क्या कम मूल्यवान है।

इसी नाते भी तो हजारों साल पहले के भीमबेटका को, हजार साल पहले के खजुराहो को, और चार-पांच सौ साल पहले की किसी मिनियेचर शैली कृति को ही नहीं, सौ-सवा सौ साल पहले की राजा वर्मा की किसी चित्र-कृति को, और सत्तर अस्सी साल पहले अमृता शेरगिल के बनाये किसी चित्र को हम कुछ अधिक मूल्यवान मानते हैं। नीलामी-घरों द्वारा चित्रकृतियों की, पुरानी कलावस्तुओं की जो बोली लगायी जाती है, उसमें जो जितनी ज्यादा पुरानी हो, वह प्रायः सर्वाधिक ध्यान, कीमत, प्रचार आदि वसूल करती है। यह सुविधा, ठीक इसी रूप में किसी अन्य माध्यम को प्राप्त नहीं है। इस माध्यम की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें तत्काल एक घटना बना देने की क्षमता है। ज्यों ही कोई कलाकार छात्र या बच्चा भी किसी चित्र का अंकन शुरू करता है, आसपास के लोग उसे उत्सुकतापूर्वक देखने लगते हैं या ज्यों ही कोई किसी के घर -दफ्तर पहुँचता है, और उसे वहां कोई चित्र दीवार पर टंगा हुआ मिलता है उस पर तत्काल चर्चा शुरू हो सकती है। यह अकारण नहीं है कि एक देश का व्यक्ति जब किसी अन्य देश में पहुंचता है तो वह सबसे अधिक और सबसे पहले आसानी और सहजता से वहां के चित्रों और मूर्तिशिल्पों से अपना एक संबंध बना लेता है/बना ले सकता है, क्योंकि चित्र की भाषा ही वास्तव में यूनिवर्सल/सार्वभौम होती है। साहित्य पढ़ने-समझने और उस पर चर्चा के लिए भाषा/भाषाओं का ज्ञान जरूरी है। नृत्य-संगीत-नाटक के साथ एक संबंध बनाने के लिए उनका कोई प्रदर्शन देखना अनिवार्य है : तभी उस पर चर्चा हो सकती है। पर चित्र या मूर्तिशिल्प के साथ तो यह है कि वह कहीं भी हो, किसी रूप में हो, मसलन प्रिंट या प्रतिकृति के रूप में, उस पर तत्काल चर्चा और ध्यानाकर्षण संभव है। दुनिया भर में राजनयिक आज से नहीं, एक ज़माने से, किसी देश में पहुंचने पर वहां की कला गतिविधियों से ही सबसे पहले एक संबंध स्थापित कर पाते हैं। हमारे ही यहां जो राजनयिक आते हैं, वे ताजमहल, जैसलमेर, महाबलिपुरम, साँची आदि की ओर तो रुख करते ही है, प्रदर्शनियों के उद्घाटन अवसरों आदि पर भी उनकी भागीदारी लक्ष्य की जा सकती है।

कला का जो गोचर रूप है, प्रत्यक्ष रूप है, उसमें तो सभी साझा कर ही सकते हैं, कर ही पाते हैं और कम से कम रंग-रेखाओं की तो सभी पहचान ले सकते हैं, किसी कलाकृति के आशय और अर्थ-मर्म को समझने में भले ही कुछ देर लगे।

आपने देखा होगा कि कोई कलाकार/कला छात्र जब किसी स्टेशन, घाट, स्मारक आदि में स्केचिंग के लिए पहुंचता है तो पीछे से, कुछ दूर से, लोग यह देखने लगते हैं कि वह 'दृश्य' को कैसे उतार रहा है, किस सफाई या सुघरता से, और ऐसा करते हुए वे भी मानों उसके साथ मन ही मन, या आँखों ही आँखों में एक अंकन करने लगते हैं। आपने यह भी देखा होगा कि अगर कोई कलाकर/कला छात्र अपनी स्केचबुक कहीं भी रख या फैला दे, तो आसपास के सभी लोग, उस 'घटना' में अपने को सम्मिलित कर पाते हैं। वे ठीक ही यह मानकर चलते हैं कि उसमें उनकी भागीदारी सहज है, स्वाभाविक है।

अन्य माध्यमों की तरह ही, कला माध्यम की भी अपनी एक निरंतरता है। उसका अपना प्रवाह है, जैसे कि किसी नदी का होता है। कला रुकती नहीं है। वह किसी न किसी रूप में उगती/फूटती भी रहती है- दूब-घास की तरह न सही उतने नैसर्गिक रूप से, पर उगती है। यही कारण है कि वह किसी एक रचना-सामग्री पर निर्भर नहीं है। खड़िया, पेंसिल, गेरु, स्याही से लेकर न जाने कितनी चीजें उसके काम आती रही हैं, और जेल की दीवारों से लेकर, युद्ध के खाई-खंदकों तक में वह प्रकट होती रही है। इसका अर्थ यही नहीं कि कैसे भी आंकी गयी, और किसी भी तरह बना दी गयी कोई भी चीज कला का या श्रेष्ठ कला का उदाहरण होती है, पर इतना तय है कि उसके जो तत्व और उपकरण हैं, उसके जो रूप और लक्षण हैं,

वे हर जन में बसे होते हैं- किसी न किसी मात्रा या रूप में। यह भी शायद अकारण नहीं है कि आप किसी भी शिशु को, कैसी भी रंग सामग्री दे दें- वह उससे खेलने अवश्य लगेगा। कुछ लकीरें, कुछ रंग वृत्त, वह कागज या फर्श या दीवार पर उभार जरूर देगा और हम उसके अंकन को, क्षण भर सही, चकित-मुग्ध दृष्टि से देखने जरूर लगेंगे।

कला के माध्यम से सदियों से मानव-आकृति के, प्रकृति के, पशु-पक्षियों के जो बिंब और रूप उभरते रहे हैं, उनसे मानों यह सृष्टि, और मनुष्य की रची हुई सामाजिक सृष्टि, हमारे लिए अधिक गोचर, अधिक प्रत्यक्ष और अधिक बोधगम्य होती रही है। उसने जीवन को अधिक कल्पनाशील, अधिक सहनीय और कई अर्थों में अधिक रूपवान बनाया है। जो प्रत्यक्ष नहीं है, और जिसका संबंध किसी अंतरलोक से है, उसे भी उसने उभारा है और फिर, जीवन से हमारी पहचान को नये संदर्भ और अर्थ दिये हैं।

कभी-कभी उसने किसी देश-समाज की सामान्य वस्तुओं को, उसके औसत प्रतिरूपों-छवियों को, प्रतीकों में ढाला है, और उनसे हमारे संबंध को प्रगाढ़तर किया है या कहें उनके बहाने कई जीवन-स्थितियों को समझने में और उनके मर्म में उतरने और उतारने में सहायक हुई हैं। अमृता शेरगिल की कला को हम इस रूप में भी याद कर सकते हैं और एक जमाने में जब हुसैन ने जूता-छाता- लालटेन- को प्रतीकों की तरह भी बरता, तो मानों हम अपने ही सामाजिक-जीवन की कुछ औसत छवियों के माध्यम से, अपने आसपास को, अपने परिवेश को, अपनी सामान्य जीवन-चर्या को एक नयी या एक अलग तरह से भी देख सके और एक जमाने में मिनियेचर चित्रों में प्रकट हुए पशु-पक्षी, वनस्पतियाँ आदि भी तो भारतीय प्रकृति और भारतीय मानस को एक अपूर्व चित्र-राग में पिरो सकें।

नंदलाल बसु, रामकिंकर, बिनोद बिहारी मुखर्जी से लेकर के. जी. सुब्रमण्यन तक की कला ने भी, आधुनिक काल में न जाने कितने ऐसे रूप-प्रतिरूप अपनी कला में रचाये-बसाये हैं कि हम स्वयं कला और जीवन के प्रगाढ़तर संबंधों को भी वहां पढ़-देख सकते हैं।

कला की, और किसी अच्छी कलाकृति की भी एक कसौटी, एक पहचान, एक परख यही हो सकती है कि वह कभी नि:शेष नहीं होती- हम जितनी बार उसके निकट जाएंगे, कुछ नये अर्थ, आशय, मूल्य, मर्म एक बार फिर पाएंगे। कुछ ऐसा पाएंगे जो उसमें पहले देखने से रह गया था। उसमें अपने को और हमें भी, नया करते रहने की अपूर्व क्षमता है।

तो, कल भी रहेगी कला।

- प्रयाग शुक्ल
राष्ट्रीय नाट्य विधालय,
बहावलपुर हाऊस, भगवानदास रोड़,
नई दिल्ली-110001

- डॉ. सरोजनी प्रीतम

विश्व-संस्कृति महिलाओं से ही सप्राण है

कहते हैं विधाता जब विश्व की रचना कर रहा था तो उसने अनेकानेक आकृतियाँ बना-बना कर उन्हें रूपाकार दिया और फूँक-फूँक कर फेंकता चला गया। फिर उसमें सौन्दर्यबोध जगा। 'रफ कट' बनाने के बाद वह 'मास्टर पीस' बनाने लगा। नाक, नक्श, डिज़ाइन, लम्बी कद काठी। फिर माँस की परतें कुछ यों चढ़ा दी कि उसी रूप-सौंदर्य पर ठगा-सा रह गया। बस उसमें उसने प्राण फूँक दिये फिर एकटक ताकने लगा।

नारी मुस्करा दी और बोली- 'अब संसार की रचना मैं करूँगी। प्राण! मैं ही फूँकूंगी। अपने बनाये सभी मानकों को विधाता ने कसौटी पर कसा तो देखा- बिजली की गति, ध्वनि की गति से भी अधिक तेज, मुस्कान की गति थी। किन्तु अब जो कुछ वह प्रदान कर चुका था उसे तो लौटा न सकता था पर हां उसकी स्पीड लिमिट यानी गति विराम के स्थल अवश्य नियत कर सकता था। उसने नारी की धीमी मुस्कान यों बना दी कि तेज गाड़ियों के आगे गतिरोधक, अवरोधक से बन जाएं और उनकी गति भी मुस्कान जैसी धीमी हो जाए। पर फिर भी वह कोई सीमा रेखा तय न कर सका। विधाता ने यों ही उससे प्रभावित होकर उसमें ताबड़तोड़ हुनर भर दिये थे। भौंहें टेढ़ी करने की अदा, कुटिलता, वक्रता, चातुर्य, टेढ़ी चाल आदि का अनुपात तो न कर पाया लेकिन नारी को सब कुछ देकर उसे एक 'सर्जन' की संज्ञा दे दी।

रूपसी बढ़ी और उसने अपने अस्त्र-शस्त्र संभाले। व्यवस्थाओं ने नयी करवट ली। छत्तीसों व्यंजन बने, छप्पन भोग तैयार हुए और पत्तल बिछाकर उन पर परोस दिये गये। नर नारी में आपसी नोंक-झोंक, चकचक, तकरार शुरू हो गयी। एक दूसरे पर पत्तल फेंकने की प्रक्रिया शुरू हो गई पर उस पत्तल का प्रभाव कुछ भी न पड़ा। मुंह पर फेंक देने पर भी न कुछ लगा, न कुछ चुभा, न गढ़ा।

ज़िन्दगी फिर सामान्य न हो जाए इसलिए तश्तरी की आवश्यकता पड़ी। आवश्यकता आविष्कार की जननी है और तश्तरी उसी का एक प्रक्षेपास्त्र। पत्तल को एक नया रूपाकार दे दिया गया। देश-विदेश में व्यापी इन्हीं आवश्यकताओं ने तश्तरी को नये रूपाकार दिये। विज्ञान ने जहाँ इसे उड़नतश्तरी की संज्ञा दी वहीं घर-घर में लोगों ने एक दूसरे पर तश्तरियाँ फेंक-फेंक कर इसकी उपयोगिता तौली, प्रभाव देखे और अस्त्र बना लिया। अब घर-घर में उड़नतश्तरियों का बोलबाला है।

खाते समय यदि नोंक-झोंक, चकचक हो तो यही अस्त्र, शस्त्र

बनकर दूसरे पक्ष को आड़े हाथ लेता है। विश्व भर की महिलाएँ यों इस क्षेत्र में एक सी ही हैं लेकिन तश्तरियों के चलन के साथ कई स्थानों पर परिवर्तन भी आ गये। जहाँ विदेशी उड़नतश्तरियाँ ज्ञान-विज्ञान के प्रकोष्ठ की वस्तुएं बन गई वहीं घर में पड़ी तश्तरी केवल एक दूजे पर फेंकने का साधन बनी, स्थितियाँ बदली, समझौते हुए, तश्तरियां बनाने वालों ने ऐसी-ऐसी तश्तरियाँ बनाईं कि ठोंक पीट कर ... जोर-जोर से फेंक-फेंक कर वे तश्तरी की गारंटी साथ में देते कि इससे सिर फूट सकते हैं संबंध टूट सकते हैं पर तश्तरी नहीं टूटेगी।

कहते हैं एक वैज्ञानिक इस फेंकी तश्तरी के साथ प्रयोगशाला में आया तो उसने इसे ऐसी उड़नतश्तरी का रूप दे दिया कि अब इसमें बैठकर भी लोग उड़ते फिरे, कहीं यह एक थालीनुमा यान बन कर यू.एफ. ओ. के रूप में डराने भी लगी और वैज्ञानिकों के हाथों में खिलौना बनी, अपनी सम्भावनाएँ, क्षमताएँ देख-देख इतराने लगी। घरेलू तश्तरियों में इसका प्रयोग ऐसा हुआ कि अब एक दूसरे पर इसे फेंकना चलन सा होने लगा है।

पापड़ बेलने की संस्कृति

तश्तरी के नये मोढ़ में चकला और उसका हथगोला बेलन भी अब आकार पा गया। विश्व के प्रत्येक देश में प्राय: हरेक स्त्री कोई न कोई पापड़ बेल रही है। यह और बात है कि भारत के पापड़ का ब्रान्ड कुछ अलग है। उसे कई बार बेलन खाने भी पड़ते हैं। पर विज्ञान की प्रयोगशाला में इसके रूप को नया आकार देकर इसे स्पूतनिक कहा गया और हमारे एक व्याकरण विशेषज्ञ का तो यह भी कहना है कि यह शब्द स्पूतनिक भी 'पूतना' का ही प्रारूप है। अंग्रेजी वाले स्वर व्यंजन घटा बढ़ाकर शब्दों से खिलवाड़ करते रहे और उनके प्राय: बहुत से शब्द हिन्दी की ही देन हैं। कितने ही पापड़ बेलने के बाद पूतना से स्पूतनिक का विकास हुआ होगा- दैवी शक्तियाँ हो या आसुरी उड़ान की गति वही .... हां पूतना की उड़ान ऊँचाइयों से नीचे आकर नीच प्रवृत्ति की थी। स्पूतनिक शब्द विस्तार और शाब्दिक गरिमा का एक अद्‌भुत उदाहरण है।

पापड़ की संस्कृति से ही रसोई पुराण विकसित हुआ। मिर्च मसाले के व्यापार हुए और यह सही तथ्य है कि भारत के मसालों की विश्व भर में ऐसी धाक मची कि अंग्रेजो ने तो गरम मसाले के लिए समूची ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना करके ऐसा चूना लगाया कि खुद समूचा भारत ही उसके स्वाद आस्वाद का पदार्थ बन गया। मसाले पदार्थ को खाद्य, व स्वादिष्ट तो बना देते हैं पर इतने स्वादिष्ट कि समूचा देश ही निगल जाने का पदार्थ बन जाय .... यह स्थिति खतरनाक है। ऐसे में यदि समय पर इस बेलन ने चक्र का रूप धारण करके कृष्ण के हाथ को थामा होता तो गुलामी की यह बेड़ियां इतनी देर न रहती, पर क्या करें। महिलाओं को जूडो कराटे की जगह केवल बेलन की क्रिया, प्रक्रिया ही समझा दी जाती तो भी यह क्रिया थम जाती किन्तु वे चटपटी मसालेदार बातों के लिए जिस मसाले का प्रयोग करती हैं .... उसकी एक चुटकी ही पर्याप्त है। चुटकियों में बात कहना, ताना कसना, बोली मारना आदि की जन्मजात प्रवृत्ति होती है किन्तु वातावरण के अनुरूप ही यह पनपती है, विकसित

होती है। जिन देशों में आर्थिक स्वतन्त्रता है, शिक्षा और प्रगति का बोलबाला है, वहां पर ऐसी-ऐसी प्रवृत्तियाँ पनप कर भी हवा पानी खाद के अभाव में बढ़ नहीं पाती। प्रवृत्तियों का पोषण करना पड़ता है तभी वे जड़ें जमा कर अन्यत्र अपनी शाखा, प्रशाखाएँ फैला सकती हैं। देश में हालांकि यह इतनी अधिक बढ़ रही है कि मानवता की जड़ें खोखली कर रही है लेकिन फिर भी नमकीन बातें, तीखी बातें ... मीठी बातें, फीकी बातें पूरे विश्व में एक सी हैं ... प्रतिक्रियाएँ भिन्न होकर भी परिणाम वही है। रिश्तों की टूटन और खटास ... समझौते खटाई में पड़ जाते हैं तो दूसरे पक्ष को मिर्ची लगती है। जीवन नीरस फीका-फीका पर ... विदेश में प्रचलन है जोड़े बदलने का। भारतीय जोड़े पता नहीं किस मिट्टी के बने होते हैं .... मन मार कर उम्र काट लेते हैं पर दूसरे तीसरे चौथे विवाह में बहुत कम विश्वास रखते हैं। सम्बन्धों का चोला कटा-फटा जीर्ण-शीर्ण हो जाए तो भी चोला नहीं बदलते। पैबन्द का चलन इतना बढ़ गया है कि पैबन्द युग का फैशन बन गया है।

मुद्रा - अब मुद्रा पर दृष्टि डालें तो वास्तव में तो यह मुख मुद्रा ही थी, प्रत्येक सिक्के पर मुख मुद्रित कर देते वही मुद्रा हो जाती यह मुद्रा किसी को मालामाल तो किसी को कंगाल भी कर देती। मुद्राओं के लिए न कोई प्रशिक्षण हुए न तीरंदाजी के अभ्यास पर फिर भी कुछ मुद्राएँ तो हैं खास। जिन्हें कुछ भुना लेती हैं और कुछ भुनभुनाती रह जाती हैं। दैवी मुद्रा और देवी मुद्रा दोनों द्वारा कोपवृष्टि और कृपादृष्टि होती है।

लाज का गहना प्राय: हरेक ने पहना पर इस गहने पर जिस बारीकी से नक्काशी, पच्चीकारी भारतीय नारी ने की, विश्व की कोई भी महिला उसका मुकाबला न कर सकी। हावभाव नखरों के अन्दाज़, नैन नचाये कहे मुस्काये- या फिर नीचे नयन कर सब कुछ कह देने वाली मुद्रा। ना ना करते हुए हां हां का प्रभाव डालने वाली को देख-देख कर कोई मुद्रित हुआ तो किसी का चेहरा उतरा।

टेढ़ी भौंहें, बांकी चितवन की वो शरारतें, पत्थरों में भी प्राण डाल देने की तो आदतें विश्व भर की महिलाओं में एक सी हैं। फिर भी हमारी लाज की - नाज, शोखी, अदा और अंदाज की कोई प्रतियोगिता करके देखें तो सभी हतप्रभ रह जायेंगे। हमारी मानिनी के नखरों का मान ज्ञात करते रह जायेंगे। तभी तो हमारी सभ्यता पर कहा गया है- 'देखो हमारा विश्व में कोई नहीं उपमान था।'

आखिर कोई इतनी देर नयन नीचे करके, नीची नज़रों से धरती देखे- नख से धरती कुरेदे, यह सम्भव ही नहीं। धरती खोदने में भी हमारी सलज्ज कन्याओं ने रिकार्ड कायम कर दिया होगा और हमेशा सबको गुरु मानने के लिए बाध्य किया होगा। उसकी कनखियों से ही बोली विकसित हुई, उसकी हँसी महाभारत खड़ा कर गयी तो उसके सौंदर्य का वर्णन करने के लिए विश्व भर के कवियों की एक जमात बैठ गई। सारे कवि उपमाओं के लिए सिर्फ महिलाओं का मुँह ताकते रहे। जिसको जैसा दृष्टिगत हुआ उपमायें बटोरते रहे। यहां-वहां की हाँकते रहे, कुछ बेचारे ऐसे विक्षिप्त कि एकटक ताकते-ताकते ही स्वयं को करने लगे कवि घोषित। रूपसी का रूप, सौन्दर्य, नाभिकीय ऊर्जा पर बलिहारी। किसी ने उसे लात मारकर ताज तख्त हासिल किया और किसी ने ताज तख्त को लात मार दी।

विश्व संस्कृति महिलाओं से ही सप्राण है। वही श्री है वही मति है, वही ज्ञान-विज्ञान है, वही ठहराव है, वही गति भी। वही जीवन का विराम, वही यति भी है।

पूरे विश्व को 'यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते' का हमने ही नारा दिया। लेकिन नारी को विवाह नाम की संस्था में पवित्र बन्धन देकर उसके सम्बन्धों में वैधता देने का वादा किया। विवाह के सम्बन्धों में विश्व भर में खलबली मची है। देश-विदेश ने अपनी मान्यताएं स्वयं ही रची हैं। किन्तु फिर भी 'यत्र भार्यास्तु पूज्यन्ते' का भी भारत ने मानक रखा, सम्बन्धों को समय ने अपनी कसौटी पर जाँचा-परखा। भारत सम्बन्धों की स्थिति में सबसे आगे बढ़ा तो सही पर अत्याचार के रावण जब सीमा रेखा न लाँघ कर भी अत्याचार का ही चलन बना लेते हैं तो जोड़े बदलते हैं। जोड़े बनाने और बदलने की दौड़ ऐसी आरम्भ हो रही है कि विधाता ने जो जोड़ियाँ तय करके नीचे भेजी थीं उन सबने अपना अलग विधान बना लिया है। विश्व में कहीं यह प्रगति कहीं तो अवनति का कारण भी बन गया। समूचे विश्व की महिलाओं में एक ऐसा करेन्ट दौड़ रहा है जिसके कारण कहीं तो वे अपनी अदाओं से बिजली गिराती हैं- किसी को उस बिजली से ऐसा आघात भी लगता है कि बिजली लगने की नौबत आ जाती है।

विश्व में नारी के केशों की घटाओं ने भी जाल यों फैलाया कि हर किसी को उसी ने उलझाया। केशों की वास्तविक कहानी भारत के महाभारत काल में ही शुरू हुई जब द्रौपदी ने ऐसे केश खोले कि एक बार तो पांडवों में भी जोश आ गया और वेणीसंहार-वेणी उत्पात, वेणी वज्र, वज्रघात का विषय हो गई ... नारी की ऐसी प्रतिज्ञा- पूरे विश्व में एक आतंक सी हुई। भय से सबने बाल कटवा लिए, न अपने बढ़ाये न लड़कियों के बढ़ने दिये। भारत में कजरारे नैन कजरारी केशराशि एक अलग ही रूप रखती है जिन्होंने बाल धूप में सफेद किए, वे भी डाई करती हैं। केशों की घटा, चन्द्रमुख की छटा, रूप की चांदनी ..... अँगड़ाइयाँ लेती हैं, सौन्दर्य को नये मानदण्ड देती है।

चाहे दृष्टिगत हो न हो लेकिन तथ्य यही है कि हरेक महिला की आँखों के पास काजल का क्रास देख-देखकर खटका सा रहता है वहां कोई मसीहा लटका रहता है।

नयनों की झील- देश-विदेश में महिला संस्कृति पर शोध करने के लिए एक तथाकथित मेगस्थनीज ने बताया है कि वह लन्दन, अमरीका, चीन, जापान .... की प्रसिद्ध झीलों की गहराई में डूबा उतराया है। बहुत शोध किये तथा पाया कि नयनों की झील की समूचे विश्व में कोई मानदंड कसौटी तो नहीं है पर झीलें सर्वदा आकर्षण का केन्द्र रही हैं किसी देश की झीलें कजरारी तो कहीं छोटी ... कहीं पर मोटी हैं। डूबने का आमंत्रण देती हैं .... सम्बन्धों की बागडोर इन्हीं में थम जाती है। डूबने वालों की जमात फेरे पर फेरे लगाती है और फिर अपने देश की प्रथा के अनुसार विवाह नाम की संस्था बनाती है।

माँग – विश्व की प्रत्येक माँग सिन्दूरी है। कुछेक माँगे फिर भी कहीं खाली कहीं अधूरी हैं। माँग सिर के बालों के बीचों बीच काढ़ कर, भारतीय नारी चुटकी भर सिन्दूर पाकर ही धन्य होती हैं किन्तु विश्व की महिलाओं की स्थिति इससे अलग है। उनकी माँग-माँग और पूर्ति का अर्थशास्त्र है। उनकी माँगों की सूची है, माँगने का एक तरीका है ... बंधने का, बांधने का एक आरम्भिक कदम है। माँग ही निर्णय देती है कि उसकी माँग पूरी करने में वह व्यक्ति किस कोटि का है- सक्षम है ....।

भारत की चन्द्रमुखी की माँग सात फेरों के अभ्यास के बाद भरती है, माँग घटती है, बढ़ती है ....।

विश्व भर में सभी महिलाएँ माँग मनवाने के लिए हड़ताल करती आई हैं पर भारतीय स्त्रियों की माँग का रूप ही कुछ और है ....।

एक पति ने पत्नी को अपने अधिकारों की माँग के लिए भूख हड़ताल करते देखा तो उसे कहना पड़ा, 'अधिकारों की माँग के लिए हड़ताल जैसी माँग का तो अपना ही अधिकार है बड़ा। पुरुषों की माँग भी होती हैं तो नहीं ... इसीलिए विश्व की प्रत्येक नारी की माँग के रूप प्रकार देख-देख कर वे ठंडी साँस लेते हैं तो मैं यही कहना चाहूँगी-

'हमारी माँग देख कर व्यर्थ ही आह न भरें।
पुरुषों को भी चाहिए- अपनी माँग तो पैदा करें।'

– **डॉ. सरोजनी प्रीतम**
सी. 111, न्यू राजेन्द्र नगर
नई दिल्ली-110060

– राजेन्द्र अवस्थी

भारत के आदिवासी : कला और लोक साहित्य

आदिवासियों की उत्पत्ति कैसे हुई, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इनके सम्बन्ध में संस्कृत ग्रन्थों में अनेक बार लिखा गया है। भागवत में लिखा है कि ध्रुव की सातवीं पीढ़ी में जो राजा बना, उसकी जाँघों से निषाद की उत्पत्ति हुई। यह उस समय की बात है, जब भारत में पुर और ग्राम की कल्पना तक नहीं थी। निषाद वन में रहने वाले थे और आदिवासी कहलाते थे। इससे पता चलता है कि वन-निवासी निषाद और ध्रुव पीढ़ी के राजा पृथु- एक ही मूल-पुरुष की संतान हैं। दोनों ही भारतीय रहे हैं। एक कथा और है। कहा जाता है कि कश्यप हमारे आदि जनक थे। इनका स्थान कश्यप पर्वत था। इनसे ही देवता, मनुष्य और राक्षस उत्पन्न हुए। उनकी कई रानियाँ थीं। एक रानी दिति थी। उससे दैत्य या राक्षस हुए। दूसरी रानी अदिति से देवता हुए। तीसरी थी कद्रु। इससे नागा हुए। चौथी रानी विनता से गरुणी या गारुण जाति के लोग हुए। इन सब जातियों में भाईचारा रहा है। सब अपने को एक ही पिता की सन्तान मानती रही हैं। सब अपने को भारत भूमि का निवासी समझती थीं।

नृत्यरत आदिवासी

संस्कृत साहित्य में और भी कथाएँ हैं। उनमें कहा गया है कि शंकर ने कभी किरात का वेष धारण किया था। कभी शवर का। रक्ष और यक्ष जातियों को एक ही मूल पुरुष की संतान माना गया है। ये दोनों जातियाँ अपने यहां देव-योनि में मानी गयी हैं। वन वासियों में बहुत सी लोक कथाएं चली आ रही हैं। पुराणों में भी दन्त कथाओं की कमी नहीं है। लेकिन किसी भी कथा से यह पता नहीं चलता कि आर्य अथवा ये वनवासी कहीं बाहर से आये थे। उनमें कभी परस्पर युद्ध भी नहीं हुए। अतः ऐसा नहीं था कि इनमें कोई जाति बाहर से आयी हो और उसने राज्य पाने के लिए युद्ध किया हो। सब अपने को भारतीय मानती रही हैं।

इस बात के प्रमाण हैं कि वैदिक काल से ही भारतीयों और शेष वनवासियों में पड़ोसियों का-सा सम्बन्ध रहा है। उनमें आपस में विवाह भी हुआ करते थे। दोनों एक दूसरे की संस्कृति से कुछ-न-कुछ लेते रहे हैं। कहा जाता है कि हिन्दुओं में महादेव की कल्पना आदिवासियों से ली गयी है। विवाह

के समय सिन्दूर की प्रथा भी आदिवासियों से ही आयी है। मूर्ति-पूजा का प्रचलन भी इन्हीं वन निवासियों में रहा है। उन्हीं से हिन्दुओं ने सीखा।

इस तरह आदिवासी हमसे अलग नहीं है। दोनों की संस्कृतियां मिलकर ही भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। अत: उन्हें किसी अजायबघर का जीव नहीं मानना चाहिए। वे हमारे भारतीय राष्ट्र के अंग हैं।

आदिवासियों के साधन सीमित हैं। बाहरी भाग के साथ उनका मेलजोल कम हो पाया है। इसलिए वे अधिक गरीब हैं। पहले मालगुजार और जमींदार उनका शोषण करते थे। ऊँची-नीची जमीन पहले उन्हें दे दी जाती थी। मेहनत कर वे उसे समतल बनाते थे। पर जब उस पर खेती शुरू करते तो उनसे वह जबरन छीन ली जाती। इससे उनमें उत्साह नहीं रहा। वे अपने पुराने तरीकों पर अड़े रहे। छोटा नागपुर और उड़ीसा के बिरहोर शायद अधिक सताये गये थे। वे भ्रमणशील बन गये। उन्होंने खेती छोड़ दी। जंगल की जड़ों से रस्सियां बनाने लगे।

लेकिन ये गरीब और दबे हुए लोग बड़े भारी कलाकार हैं। उनकी कला के दर्शन हर जगह किये जा सकते हैं। घर की दीवारों पर, विवाह के मण्डप पर, मरने वालों की यादगार में, बनाये जाने वाले स्मारकों पर। दीवारों पर चित्र बनाना हमारे देश की विशेषता है। आदिवासियों में भी वह पायी जाती है। उनकी कला हिन्दुओं से बहुत प्रभावित है। गोंडों के घर की दीवारों पर राम और कृष्ण के चित्र देखने को मिलते हैं। कृष्ण के जन्म-दिन पर वे कई तरह की चित्रकारी किया करते हैं। परधान गोंडों का कहना है कि सबसे पहले उन्होंने ही चित्र बनाना शुरू किया था। इसके बारे में एक कथा कही जाती है :

एक बार अर्जुन उनके गाँव से निकले। वहां कृष्ण युवतियों से घिरे खड़े थे। यह देखकर अर्जुन को बड़ा दु:ख हुआ। पर वे क्या कर सकते थे। वे जंगल की ओर चले गये। वहां एक पुरानी दीवार थी। उस पर वे युवतियों के चित्र बनाने लगे। किसी आदिवासी ने यह देख लिया। जब अर्जुन चले गये, तो वह गाँव वालों को बुला लाया। सबने वे चित्र पसन्द किये। वे उनकी नकल करने लगे। बस, तभी से चित्र बनाने की कला उनमें प्रचलित हुई।

सावरा जाति के चित्र अलग ढंग के होते हैं। उन्हें वे 'इत्तल' कहते हैं। कोई आदमी सपने में चित्रों की रूपरेखा देखता है। वही उसे फिर बना देता है। जब तक वे सपने में न दिखें, चित्र नहीं बनाये जाते। ये चित्र प्राय: किसी मरने वाले की याद में बनाये जाते हैं। चित्र बनाने का तरीका भी अलग होता है। पहले पैर फिर धीरे-धीरे मुँह बनाया जाता है। जब चित्र बन जाता है, तो जिसकी याद में वह बनाया गया है, उसे निमंत्रण दिया जाता है। कहते हैं वह रात को आकर चित्र पूरा कर जाता है। बाद में चावल और शराब चित्र को भेंट की जाती है। एक बड़ा जुलूस निकाला जाता है। सावरा लोगों का विश्वास है कि बड़ी से बड़ी बीमारी चित्रों के बनाने से दूर हो जाती है। भूत-प्रेत भी चित्र बनाते ही भाग जाते हैं।

संघन जंगलों की चट्टानों पर भी बहुत से चित्र देखे गये हैं। ये इन्हीं वन-निवासियों के हैं। पचमढ़ी में अनेक गुफाएं हैं। उन गुफाओं में कई प्रकार के चित्र बने हैं। ये प्राय: शिकार के हैं। एक दल हाथ में तीर-कमान लिये शिकार करने जा रहा है। ये चित्र उनकी संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं।

विवाह के समय बहुत सी जातियों में मण्डप गाड़ा जाता है। उसमें एक खम्भा होता है। उस पर बड़ी कारीगरी की जाती है। इसी तरह वधू को ले जाने वाली डोली भी बड़ी कलापूर्ण होती है। गोंड़ों की डोली कला के लिए प्रसिद्ध है।

मृतक के सम्मान में स्मारक बनाने की प्रथा इनमें बहुत पुरानी है। ये स्मारक भी देखने लायक हैं। इनमें कई तरह के चित्र बनाये जाते हैं। हाथी और मोर आदिवासियों के प्रिय जानवर हैं। कला में इनका बहुत बड़ा स्थान है। कहा जाता है कि पहले हाथी उड़ते थे। वे देवलोक से आया करते थे। देवताओं का संदेश धरती

वालों को देते थे। यहां की बातें देवताओं से बताया करते थे। उन पर देवता सवारी किया करते थे। एक मुनि के शाप से उनके पंख टूट गये। उसके दो पंख केले के झाड़ को मिले। दो पंख मोर को। मोर बड़ा सुंदर पक्षी माना जाता है। स्त्रियाँ उसे अपने शरीर पर जरूर गुदाती हैं। आदिवासियों की कला निराली है। वह तो उनके शरीर पर भी दिखायी देती है। कोई भी आदिवासी बिना शरीर गुदाये नहीं रहता।

बस्तर और आसाम के 'कुमार घरों' की दीवारें भी अनेक चित्रों से भरी होती हैं। इन चित्रों से उनकी रुचि का पता चलता है। त्यौहारों के समय वे एक विशेष प्रकार की वेष-भूषा पहनते हैं। वह या तो आकर्षक या भयानक होती है। पर दोनों हालतों में उसमें कला देखने को मिलती है। वे फुरसत के समय कई तरह के चित्र बनाते हैं। इनमें कपड़े और चटाइयाँ मुख्य हैं। नागाओं के कपड़े बड़े आकर्षक होते हैं। वे हाथ से उनमें कई तरह की डिजाइनें बनाते हैं।

आदिवासियों की कला में कौड़ी का बहुत बड़ा स्थान है। कौड़ी वैसे भी उनके लिए गुणकारी है। वह भूत-प्रेतों से उन्हें बचाती है। साँप का जहर कौड़ियों से उतारा जाता है। औरतें कौड़ियों की कई तरह की मालाएँ पहनती हैं। उनके काले शरीर में ये सफेद कौड़ियाँ सुन्दरता पैदा करती हैं। पहले कौड़ियों के सिक्के भी चलते थे। कौड़ियों का उपयोग अब भी दीवारों पर चिपकाने के लिए किया जाता है। सारे धार्मिक कामों में कौड़ी का उपयोग होता है। माटी के पुतले बनाते समय आँख की जगह कौड़ी का ही उपयोग किया जाता है, कौड़ी के सिवा कंघियों का भी महत्व उनके लिए बड़ा है। कंघी शृंगार का साधन है। उससे बालों की शोभा बढ़ जाती है। इसलिए चित्रकला में कंघियों को भी अच्छा स्थान मिला है।

जीवन के साथी : लोक-गीत

कला की तरह आदिवासियों का साहित्य भी बहुत फैला हुआ है। उनके लोक-गीत और लोक-कथाएँ हमारे साहित्य की बहुत बड़ी सम्पत्ति हैं। उनमें उनकी संस्कृति की झलक है। सच पूछा जाय तो यह लोक-साहित्य सारे भारत की संस्कृति का चित्रण करता है। उनके गीतों के गीतकार अनजान हैं। न जाने कब किसने कुछ गा दिया और तब से वह अभी तक चला आ रहा है। लिखना-पढ़ना वे जानते नहीं। इसलिए उनका कोई लिखित साहित्य नहीं है। वह परम्परा से चला आ रहा है। आज भी वह अटूट चल रहा है। उसमें हमारी धरती की सुगन्ध है। एक अजीब ताजगी देखने को मिलती है। उनके गीतों में बड़ी मिठास है। बड़ी मादकता है। उनमें खींचने की बहुत बड़ी ताकत है।

इन गीतों में उनके सुख-दु:ख की छाया होती है। ये गीत हर जाति के अलग होते हैं। पर उनकी मूल भावना एक सी होती है। इसलिए अलग होते हुए भी ये एक जैसे लगते हैं। भेद केवल भाषा का होता है। गीत उनके उम्र भर के साथी हैं। पैदा होते ही बच्चे को गीत सुनने को मिलते हैं। जब वह बोलना शुरू करता है तो धीरे- धीरे गीत भी गाने लगता है। उसके सारे संस्कार गीतों के साथ होते हैं। विवाह से लेकर मृत्यु तक गीत साथ चलते हैं। जब वह मरता है, तो भी उसे गीतों के साथ दफनाया या जलाया जाता है। उसकी आत्मा को शान्ति देने के लिए दस दिन तक गीत गाये जाते हैं। सुबह हो या शाम गीतों के लिए कोई समय नहीं होता। हर समय वे गाये जा सकते हैं। कभी-कभी उनके साथ नाच भी होता है। तब वे उचटने और चक्कर काटने लगते हैं। वैसे गीत सोकर भी गाये जा सकते हैं, बैठकर भी और खड़े होकर भी।

उदाहरण के लिए हम एक गोंड़ी प्रेम-गीत यहाँ दे रहे हैं। वह इस प्रकार है :

ये हे हाय रे हाय मोला पयरी के साध,
लय दे मोर हीरा रुनझुन बाजे रे।
चुटुक-चुटुक तुर चुटकी बाजै पैरिन के झंकार
आने गुस्सा झै होवै महीं लगै हों पार।

गीत बहुत लम्बा है। इसमें एक प्रेमिका अपने प्रेमी की बड़ी तारीफ करती है। इसलिए कि उसे कई तरह के ज़ेवर चाहिए। सारे ज़ेवरों के वह नाम गिना देती है। उनकी उपयोगिता कितनी है, यह भी समझाती है। अन्त में अपने प्रियतम को मनाने के लिए एक चाल चलती है। वह कहती है :

नैतो चाही चुटकी मुंदरी और न चाही चूरा।
आने सुख देवै हीरा तोर हात के टूरा।

और वह एकाएक लजा जाती है। उसकी सहज भावना एकाएक सामने आ गयी। यह भावना हर आदिवासी नारी में मिलेगी। वह चाहे हिमालय की हो। चाहे विन्ध्याचल की। विवाह होते ही माँ बनने के सपने वह देखने लगती है। यह एक ऐसी भावना है, जो हमारे सारे देश का चित्र सामने रख देती है।

इसी तरह के बहुत से गीत हैं। विवाह के गीत। मृत्यु के गीत। फसल बोने के गीत। खेत जोतने के गीत। फसल काटने के गीत। फसल गाहने के गीत। देवताओं को मनाने के गीत। भूत-प्रेतों के गीत। उनसे दूर भागने के गीत। अपने सरदार की वीरता के गीत। सरदार की कायरता के गीत। शिकार करते समय के गीत। शिकार को जाते समय के गीत। जंगल के गीत। घर के गीत। नदी-नालों के गीत। घोटुल के गीत। प्रेमी के गीत। मिलन के गीत, विरह के गीत। हर चीज के गीत हाजिर हैं। हर मौसम के गीत हाजिर हैं। हर समय के गीत हाजिर हैं। इतनी सम्पदा शायद किसी देश के किसी साहित्य में नहीं होगी। यदि ये सारे गीत एकत्रित कर लिए जाएं, तो हमारे साहित्य का काफी विस्तार होगा। हमारी संस्कृति के एकीकरण की ओर यह बहुत बड़ा काम होगा।

लोक-कथाएँ

गीतों के बाद किस्सा, कहानियों और मुहावरों का नम्बर आता है। इनकी कहानियाँ भी अपने ढंग की होती हैं। उनके सहारे वे बड़ी-बड़ी बातें समझा जाते हैं। कहानियों में उनके जीवन के चित्र मिलते हैं। उनकी सारी मान्यताओं का चित्रण उनमें होता है। कहानियाँ एक बार किसी बूढ़ी दादी ने कही होंगी। आज तक वे उसी तरह चली आ रही हैं। उनका क्वांरापन आज भी पहले की तरह बना है। कहानियाँ छोटी हैं और बड़ी भी। ये संख्या में इतनी अधिक हैं कि यदि इन्हें एकत्रित किया जाय तो महाभारत जैसे ग्रन्थ के कम से कम सौ भाग बनें। फिर भी शायद वे अनलिखी रह जाएँ। कहानियों के साथ कहावतें भी चलती हैं। लोकोक्तियों का अपना अलग स्थान है।

आदिवासियों के लोग-गीत और लोक-कथाओं का संग्रह कम हो पाया है। इस ओर बहुत सा काम डॉ. बेरियर एलविन ने किया है। उन्होंने मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों के आदिवासियों की लोक-कथाएँ एकत्रित की हैं। कुछ अन्य लोगों ने संथाल परगने की लोककथाएँ प्रकाशित करवायी हैं। बिहार में इस ओर काफी काम हुआ है। नागाओं की कुछ कथाएँ भी मुझे देखने को मिली हैं।

लोक गीत सबसे अधिक देवेन्द्र सत्यार्थी और राम नरेश त्रिपाठी ने एकत्रित किये हैं। खासी जाति के गीत तथा कहानियों की एक पुस्तक मैंने देखी थी। यह काम एक महिला ने किया है। यह हर्ष की बात है कि इधर काफी ध्यान दिया जाता रहा है। अनेक विश्वविद्यालयों में शोध-कार्य भी हो रहे हैं। असल में यह काम आदिम जाति सेवक संघ को करना चाहिए। जहाँ तक मुझे मालूम है, वहां से कुछ पुस्तकें छपी भी हैं। भीलों पर एक अच्छा संकलन निकला है लेकिन यह सारा काम एक पूरी योजना के साथ किया जाना चाहिए।

भाषा की समस्या

आदिवासियों की भाषा भी एक बड़ी समस्या है। असल पूछा जाय तो उनकी कोई एक भाषा है ही नहीं। उनका लिखा साहित्य मुश्किल से कहीं कुछ होगा। शायद गोंड़ और संथालों में ही थोड़ा सा लिखित साहित्य है। गोंड़ी भाषा में मुश्किल से कुल मिलाकर छः सौ शब्द होंगे। उनका उच्चारण भी अजीब है। उनमें कई को शुद्ध गोंड़ी में बोलना ही कठिन है। गोंड़ों का एक व्याकरण छपा है और एक छोटा शब्दकोष। ये दोनों पुस्तकें मेरे पास हैं। व्याकरण उनका अधूरा है। जो कुछ है, वह हिन्दी से लिया गया है। शब्दकोष में कुल दो सौ पृष्ठ हैं। इसमें भी आधे हिन्दी से लिये गये हैं। जो शब्द उसमें दिये हैं, वे हिन्दी में बहुत प्रचलित भी हैं। बस्तर के गोंड़ हलवी बोलते हैं। हलवी में कुछ पुस्तकें मैंने देखी हैं। वे बहुत छोटी-छोटी हैं। बहुत सी तो ताजी लिखी मालूम पड़ती हैं। संथाली में एक पत्रिका निकलती है। इसके पहले कुछ पुस्तकें भी वहां छपी हैं। पर इनकी संख्या कम है।

भारत के आदिवासियों की भाषा का ठीक-ठीक ज्ञान पाना बड़ा कठिन काम है। असल में वे बोलियां मात्र हैं। बोली भी हर कोस पर बदलती रहती है। एक ही तरह के आदिवासी दो मील के अन्तर से अलग बोली बोलते हैं। दस मील के बाद तो वे एक दूसरे की बोली भी नहीं समझ पाते।

आदिवासियों की बोलियों पर उनके आस पास के क्षेत्र का प्रभाव है। जो क्षेत्र जिस भाषा के पास है, उसका असर वहां की बोली पर है। उदाहरण के लिए गोंड़ी को लिया जा सकता है। मंडला के गोंड़ बुन्देलखंडी और हिन्दी मिली गोंड़ी बोलते हैं। छत्तीसगढ़ के गोंड़ों में छत्तीसगढ़ी और हिन्दी का प्रभाव है। उत्तरी बस्तर के गोंड़ भी छत्तीसगढ़ी से प्रभावित हैं। दक्षिण के गोंड़ों पर तेलुगु का प्रभाव है। पूर्व में उड़िया भाषा का असर है। पश्चिम में वे मराठी से प्रभावित हैं।

इसी तरह संथाल बिहारी, उड़िया और बंगला भाषा के प्रभाव में हैं। भीलों पर मालवी और राजस्थानी का असर है। कई खोंड़ या कंध उड़िया समझ और बोल लेते हैं। दक्षिण के टोडा मराठी और तमिल तथा तेलुगु की खिचड़ी बनाकर अपनी बोली बोलते हैं। नागा पहाड़ी भाषाओं से प्रभावित हैं। खासी जाति पर मणीपुर का बहुत असर है।

भाषा-शास्त्रियों ने आदिम जातियों की भाषाओं को दो भागों में बाँटा है- (1) द्रविड़ भाषा बोलने वाले और (2) मुंडा या कोल वर्ग की भाषा बोलने वाले। इस आधार पर सबसे ज्यादा वर्ग द्रविड़ भाषी है। गोंड़ द्राविड़ भाषी ही माने गये हैं। उड़ीसा के कंध कुई भाषा बोलते हैं। कुरुख और उराँव भी यही भाषा बोला करते हैं। यह भी द्रविड़ भाषा है।

कोल या मुंडा वर्ग की भाषा बोलने वाला सबसे बड़ा दल संथालों का है। मुंडारी, हो, खड़िया, भूमिज और बिहार की कुछ अन्य जातियाँ भी यही भाषा बोलती हैं। कोरकू, सावरा और गडवा बोलियों को भी मुंडा भाषा के अन्तर्गत माना जाता है। आसाम के खासी और अण्डमान-निकोबार के आदिवासियों की भाषा इन दोनों वर्गों के बाहर मानी गयी है।

इस तरह आदिम जातियों की कोई एक भाषा बताना सरल नहीं है। उनकी बोली में एकरूपता लाना भी असम्भव सा काम है। वे तो अपने आसपास की भाषा और बोली के द्वारा अपना छोटा सा शब्द भण्डार भरते रहते हैं। इसी से उनका काम चलता है। उनके चलते काम में कभी रुकावट नहीं आ पायी। यही सब से बड़ी बात है। इससे अधिक चाहिए भी क्या ? भाषा और बोली अपने मन के भावों को प्रकट करने के साधन हैं। जिनके पास ये साधन मौजूद हों, मैं समझता हूँ, उनके पास सब कुछ है।

- राजेन्द्र अवस्थी
एफ-12, जंगपुरा एक्सटेंशन,
नई दिल्ली-110014

– नवीन जोशी

कला : चित्रकला, मधुबनी और कुमाऊँनी

सरिता जल की वह धारा है, जो पहाड़ों की चोटियों पर संचित जल का संबल ले, कल-कल करती पत्थरों को काटती, जंगलों में घूमती, मैदानों में रेंगती उतरती है और निरंतर अपना टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता बनाती चलती चली जाती है, जब तक कि सागर की अनंत गहराई को प्राप्त नहीं कर लेती। मनुष्य भी अपनी संपूर्ण शक्तियों के माध्यम से सुख की खोज में सरिता की भाँति बढ़ता जाता है, जिसे वह जीवन तथा अपनी संस्कृति की प्रगति कहता है। नदी गहराई खोजती है और शायद वही उसका अंतिम लक्ष्य है। इसीलिए सागर की अनंत गहराई में ही वह मोक्ष प्राप्त करती है। मनुष्य और सरिता इसी तरह कल-कल करते प्रगति के प्रवाह में बहते चले जाते हैं।

सृष्टि के जन्म के साथ ही कला का उद्गम एवं विकास भी आरंभ हुआ। इसे हम मानव संस्कृति का विकास भी कह सकते हैं। प्रत्येक युग में मानव संस्कृति का विकास

सौजन्य : ललित कला अकादेमी

मधुबनी की चित्रकला

सौजन्य : ललित कला अकादेमी

कुमाऊँ की चित्रकला

उन युगों की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार से हुआ है। इसी विकास क्रम में स्थानीय परंपराओं तथा कलाओं ने जन्म लिया। प्रत्येक जनपद, नगर, ग्राम व कस्बों में इन लोक कलाओं की अद्‌भुत छाप देखने को मिलती है। अपनी अनुभूतियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति मनुष्य के जीवन का प्रमुख उद्देश्य रहा है। विभिन्न लोक कलाओं में प्रतीकात्मक शैली के अमूर्त आलेखन, चित्रण, रेखांकन आदि द्वारा सामाजिक, धार्मिक रीति-रिवाजों एवं परंपराओं को अभिव्यक्त किया गया है। किसी भी प्रकार की प्रसिद्धि की अपेक्षा किये बिना लोक कला की यह धारा हमारे पारिवारिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन की परंपराओं के साथ जुड़कर आगे बढ़ती रही है तथा बिना किसी प्रलोभन, आश्रय तथा प्रोत्साहन की अपेक्षा किये एक प्रांत से दूसरे प्रांत को जोड़कर लोक मानव की आत्मा को जोड़ती रही है। यह हमारे देश की समग्र संस्कृति एवं सभ्यता के विकास की निधि है।

कला का कार्य व्यक्ति और समाज के बीच संवाद स्थापित करना भी है। व्यक्ति और समाज को परस्पर समीप लाना है। इसी कार्य के लिये समाज में भाषाओं की उत्पत्ति हुई, जिनमें से कला भी एक है। व्यक्ति कला की भाषा के माध्यम से दूसरों तक अपने अनुभवों को पहुँचाता है। चित्रकला भी एक भाषा है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने को अभिव्यक्त करता है। इस भाषा का कोई निश्चित रूप नहीं है। इस भाषा के नित्य नये रूप सामने आते हैं। कला का रूप, उसकी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सर्वग्राह्य हो। तब प्रश्न उठता है कि ऐसी चित्रकला कौन सी हो सकती है जिसके रूप का अर्थ और उसके द्वारा व्यक्त किये हुए भाव समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँच सके? इस प्रश्न का उत्तर चित्र के तत्वों के विवेचन से मिलता है। चित्र की भाषा के तत्व रंग, रूप और रेखायें हैं। रंग, रूप और रेखा ही ऐसे माध्यम हैं जिनके द्वारा हम किसी चित्र का भाव समझते हैं। किन्तु रंग, रूप, रेखा स्वयं कुछ नहीं है। वे चिह्न या प्रतीक मात्र हैं, जिनके द्वारा भाव प्रकाशन होता है। एक चित्र में लाल रंग का कोई अर्थ नहीं है, उसके साथ यदि एक सूर्य का गोला बना दिया जाय तो वही सूर्य की लाली या धूप को दर्शाता है। अर्थात् प्रत्येक कला प्रतीकों के द्वारा व्यक्त होती है। इसलिए चित्रकला को भी समाज तक पहुँचाने के लिये ऐसे प्रतीकों की खोज करनी पड़ती है जिनका भाव समाज भली-भाँति समझ सके।

मिथिला की पारंपरिक चित्रकला जो मधुबनी चित्रकला के नाम से भी जानी जाती है, आज भी उतनी ही सजीव है जितनी कि वह आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व थी। मधुबनी जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'शहद के वन'। यह क्षेत्र अपनी हरियाली तथा सदा लहलहाती फसलों, रंग-बिरंगे फूलों से भरे बागों व फलों से लदे वृक्षों के लिये प्रसिद्ध था। इसी कारण इस क्षेत्र को लोग मधुबन कहने लगे और यहां की चित्रकला मधुबनी चित्रकला के नाम से प्रसिद्ध हुई। तमाम समाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल के बावजूद बिना किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन के इतने दीर्घ काल तक अपने प्राचीन रूप में इस कला के जीवित रहने के पीछे मुख्यत: दो कारण नजर आते हैं। प्रथम मिथिला, जो कि प्राचीन भारत का एक प्रसिद्ध राज्य था, का सामाजिक संगठन। यह सामाजिक संगठन ग्राम्य समुदाय पर आधारित था, जिसके सामूहिक जीवन में स्त्रियों की एक जानी पहचानी भूमिका थी। अपने संयुक्त पारिवारिक जीवन के दायित्वों को पूरा करने के अतिरिक्त महिला कलाकार, एक ऐसे ग्राम समाज के लिये कार्य करती थीं, जिसकी आवश्यकताओं से वे भली-भाँति परिचित थीं। ग्राम्य समाज की इसी संरचना के अंतर्गत आने वाले कालों में भी मिथिला की महिलायें पीढ़ी-दर-पीढ़ी कला के इस पुरातन रूप को जीवित रखने में समर्थ रहीं। इस प्रकार एक अद्‌भुत प्राचीन चित्रकला की बार-बार पुनरावृत्ति से न केवल एक कला जीवित रही बल्कि भारतीय कला का भंडार भी समृद्ध होता रहा। इस पारंपरिक कला को जीवित रखने का दूसरा प्रमुख कारण इसमें प्रयुक्त होने वाली सामग्री का अस्थायी होना था। प्रत्येक शुभ-अवसर, उत्सव, त्यौहार तथा धार्मिक कर्मकांड के लिये विषय परिवर्तन के साथ एक नये चित्र की आवश्यकता स्वाभाविक थी और प्रत्येक अवसर, त्यौहार के समाप्त होते ही उससे संबंधित चित्र की उपादेयता भी समाप्त हो जाती थी। अत: हर उत्सव, त्यौहार और अवसर पर फिर से दीवारें लीपी-पोती जातीं और विषयानुसार चित्र उकेरे जाते। चित्रों में प्रयुक्त होने वाली सामग्री बहुत सस्ती तथा बहुतायत में उपलब्ध थी। इस क्षेत्र की जलवायु अत्यधिक नम होने के कारण भी चित्रों को बार-बार उकेरना और रंगना पड़ता था। इस कारण इस कला के रंग 'काल और समय' के परिवर्तन के साथ भी फीके नहीं पड़े। माँ से पुत्री को पुत्री से उसकी पुत्री को इस कला की शिक्षा मिलती रही। इस प्रकार एक समाज की उत्सवप्रियता और उन उत्सवों पर परंपराओं के पालन ने मधुबनी चित्रकला को जीवित रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

महिलाओं द्वारा की गयी इस चित्रकारी का प्रधान स्रोत धार्मिक है। प्रसिद्ध लोक कथाओं की एक समान तांत्रिक बुनियाद पर हिन्दूवाद से लेकर लोक बुद्धवाद के अनेक धार्मिक विश्वास एकत्र होते गये और एक लंबे समय तक इस क्षेत्र में साथ-साथ अस्तित्व में रहे। मिट्टी की दीवारों पर उकेरे गये चित्र, चित्रों की एक पुस्तक के समान हैं। पुराने महाकाव्यों, सामुदायिक पौराणिक गाथाओं व दंत कथाओं के चित्रों के अवलोकन से उनमें छिपी कथा जीवंत हो उठती है। चित्रों में चटख व काल्पनिक रंग उन्हें नाटकीय प्रबलता प्रदान करते हैं। मिथिला की महिलाओं की इस चित्रकला में जानवरों का अपना स्थान है। चित्र में दर्शायी गयी दंत-कथा या उसमें चित्रित कर्मकांड के साथ उस जानवर का कोई न कोई संबंध है। अलग-अलग अवसरों पर बनाये गये चित्र अलग-अलग अर्थों

को ही व्यक्त करते हैं। प्रत्येक चित्र एक प्रार्थना तथा ध्यान की पूर्णता का द्योतक है। यदि चित्र अच्छी प्रकार बनाया गया है तथा रीति-रिवाजों के अनुसार है, तो कहा जाता है कि उसमें चित्रित देवी-देवता उसमें अवश्य निवास करेंगे। दूसरी ओर, ईश्वर के मुख या शरीर को चित्रित करने की अपेक्षा उसके प्रतीक को ही अक्सर दिखाया जाता है। इसके पीछे कलाकार की यह भावना हो सकती है कि जो समस्त जग का सृजनकर्ता है, उसके सृजन की कल्पना वह कैसे कर सकता है। शिव और शक्ति, कृष्ण और राधा, राम और सीता तथा विष्णु और लक्ष्मी इन चित्रों में प्रदर्शित मुख्य देवी-देवता हैं। वैदिक युग की मातृ शक्ति जिसका अवतार माँ काली है के भी चित्र उकेरे गये हैं।

मिथिला की चित्रकला की दो पारंपरिक शैलियाँ हैं। कुछ गाँवों में, स्त्रियाँ अक्सर विवरणों के साथ चित्रों की केवल बाह्य रूप रेखा ही बनाती हैं। जबकि अन्य गाँवों में महिला चित्रकार स्याही से चित्र की एक कच्ची रूप रेखा बनाकर उनके उभारों में रंग भरती हैं। रंग भरने की कूचियों के अभाव में एक साफ कपड़े के टुकड़े या बांस के सिरे पर रूई लगाकर रंग भरे जाते हैं। प्राचीन समय में इस चित्रकला में केवल प्राकृतिक रंगों का प्रयोग होता था। काजल से बना काला रंग, स्थानीय मिट्टी से प्राप्त लाल रंग तथा फूलों के पराग से बना पीला रंग। इन रंगों को बकरी के दूध या सेम के पौधे के रस में घोला जाता था। परंतु अब इस चित्रकला में आधुनिक रंगों का प्रयोग भी होने लगा है। कलाकार के लिये चित्र का सृजन एक प्रार्थना है और प्रार्थना से ही प्रभु की प्राप्ति संभव है और यही सबसे महत्वपूर्ण है। यही रहस्य कलाकार को सृजन का आनंद प्रदान करता है।

मधुबनी की चित्रकला से मिलती-जुलती एक चित्रकला की परंपरा उत्तरांचल राज्य के कुमाऊँ वाले भाग में भी मिलती है। इसे वहां की भाषा में 'ऐपण' कहते हैं। वात्सायन के कामसूत्र में वर्णित चौंसठ कलाओं में बत्तीस ललित कलायें व बत्तीस उपयोगी कलायें हैं। 'ऐपण' भी इन्हीं में से एक है जिसे सामान्यत: अल्पना के नाम से जाना जाता है। यह भी कहा जाता है कि ब्रह्मा ने सृजन के समय भूमि पर स्त्री की आकृति बनायी, यही आकृति अल्पना का पहला रूप है। अल्पना के संबंध में और भी पौराणिक संदर्भ मिलते हैं जैसे रामायण में सीता के विवाह-मंडप की चर्चा में अल्पना का वर्णन है, कुमाऊँनी अल्पना या ऐपण की सामग्री स्थायी है और इसमें मुख्यत: दो ही रंग प्रधान हैं। पहला लाल व दूसरा सफेद। सफेद रंग चावल को पानी में भिंगोकर पीस के बिस्वार से प्राप्त किया जाता है तथा लाल रंग गेरु मिट्टी को पानी में घोलकर प्राप्त किया जाता है। कई अवसरों पर लकड़ी की पट्टिकाओं में गोबर को लेपकर हल्दी, आटा आदि का भी रंगों के रूप में प्रयोग होता है। इसमें लकड़ी की पट्टिका के चारों ओर जौ के दानों का बार्डर दिया जाता है। अत: मधुबनी की भांति 'ऐपण' की मुख्य सामग्री भी प्राकृतिक ही है। अल्पना शब्द की उत्पत्ति के संबंध में साधारणतया यह माना जाता है कि यह संस्कृत के आलम्पन शब्द से निकला है या मूलत: संस्कृत शब्द अर्पन से बना है। इसका अर्थ है लेप करना। यह सही भी है क्योंकि इस कला में किसी कूँची या ब्रश का प्रयोग नहीं होता। एक कपड़े को गेरु में भिंगोकर उससे पृष्ठभूमि पर लेप किया जाता है तथा हाथ और उंगलियों के प्रयोग से बिस्वार द्वारा (पानी में भिगाए हुए चावलों को पीसकर) चित्रों को आकार दिया जाता है। इस कला के प्रचलन के लिये लोगों का विश्वास है कि ये कलात्मक चित्र नगर व गाँवों को अपनी दैविक शक्ति के प्रभाव से धन-धान्य से परिपूर्ण कर सुरक्षित रखते हैं तथा सदैव कल्याणकारी और मंगलदायक हैं। विभिन्न प्रदेशों में अल्पना या ऐपण को भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। बंगाल में अल्पना, गुजरात में सतिया, महाराष्ट्र में रंगोली, मध्यप्रदेश व उत्तर प्रदेश में चौक पूरन व साझी आंध्र में भुग्गुल, दक्षिण भारत में कोलम, राजस्थान में मडने या मरहना, बिहार में अरिपन आदि।

कुमाऊँ की लोक कला भी राष्ट्र के अन्य भागों की लोक कलाओं से सर्वथा भिन्न नहीं है। इसके आधारभूत तत्व सर्वत्र विद्यमान हैं। कुमाऊँनी लोक कला प्राचीन कला से अपने रूप को प्रतिष्ठा और वैभव के साथ संभाले हुए है। यद्यपि कई कारणों से कला की यह धारा अपने में ही संकुचित रही। आज इस लोक कला एवं शिल्प को पुन: प्रकाश में लाने के प्रयत्न हो रहे हैं। आदि शक्तियों की सर्वशक्तिमान सत्ता को किसी न किसी मूर्त और अमूर्त रूप में पूजा जाता है। कुमाऊँ की लोककला में ऐसे अनेकों प्रतीकात्मक उदाहरण देखने को मिलते हैं जिन्हें ऐपण व शिल्प द्वारा चित्रित कर उपासना की जाती है। सृष्टि के सृजन और विलय का

कारण इसी मूल शक्ति को माना गया है। ये शक्तियां हैं- लक्ष्मी, रमा, सरस्वती, गौरी, काली, दुर्गा, पद्मा, घृति, मेधा, तुष्टि, पुष्टि, श्रद्धा, शची और सावित्री आदि। वैदिक पूजा पद्धति के अनुसार माँगलिक अवसर एवं शुभ-संस्कारों के लिये बनने वाली ज्यूति नामक संरचना मातृशक्ति के अन्य रूपों को प्रकट करती है। इसमें केवल तीन देवियाँ- महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती चित्रित की जाती हैं। ये देवियाँ सभी का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन तीन शक्तियों की दाहिनी ओर मूषक सहित गणेश चित्रित किये जाते हैं। इन आकृतिमूलक प्रस्तुतियों के बाद दूसरा वर्ग अमूर्त रूपाकृतियों का है जिन्हें षोडज मातृका कहते हैं। इन्हें शंकु आकार की सोलह सरल रेखाओं से चित्रित किया जाता है। चित्र-भूमि का शेष भाग प्रतीकों व पारंपरिक अलंकारों से पूरा किया जाता है। ऊपर दोनों ओर सूर्य और चंद्रमा दर्शाये जाते हैं। यह बहुरंगी रचना, पूजा ग्रह में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

कुमाऊँ में षष्ठी महोत्सव के पूजन के लिये चौकी बनाने की परिपाटी है। पीले रंग अथवा हल्दी से रंगी पृष्ठभूमि वाले काष्ठ फलक के तीन भाग करके सरल और वक्र रेखाओं की सहायता से तीन आकार गोमय से रचे जाते हैं। ये अमूर्त आकृतियाँ, प्रसूति गृह की रक्षिता, षष्ठी माता, स्कन्द और प्रद्युम्न का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस संरचना के ऊपर जौ रोपे जाते हैं। आँखों के लिये कौड़ियों का प्रयोग किया जाता है। अन्य रिक्त स्थानों को रोली, अक्षत, हल्दी चूर्ण आटा और अबीर-गुलाल से भर दिया जाता है। मातृ-शक्ति को साकार करने के ये सभी प्रयास कुमाऊँ की अपनी लोक संस्कृति के बेजोड़ प्रमाण हैं। इन लोक कलाकृतियों के माध्यम से रचना-कौशल का एक अद्भुत रूप सामने आता है। कुमाऊँ की इस लोक कला एवं शिल्प के अंतर्गत ऐपण, भित्ति चित्र, पट्ट, डिकरे, काष्ठ फलक, चौकी आदि हैं। ऐपण के अन्तर्गत- बसोर्धारा, स्वस्तिक, पीठ, भद्र, जनेऊ, चौकी, पूजास्थल के ऐपण, देहली के ऐपण, बेदी, सूप में ऐपण आदि हैं।

ऐपण में बिंदुओं का बहुत महत्व है। बिदुंओं के बिना ऐपण अधूरे एवं अशुभ माने जाते हैं। बिन्दु अर्थात् शून्य। बिन्दु विश्व का बीज है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति और उसी में विलय होता है। साधना में चित्त शक्ति की आध्यात्मिक धुरी बिन्दु ही है जिसके बाहर की ओर नाना प्रकार की शक्तियाँ विकसित होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं। यह बिन्दु पूर्णता का सूचक एवं सर्वव्यापक है। इसीलिए ऐपणों में बिन्दुओं का विशेष स्थान है। कुमाऊँ में बिदुंओं के द्वारा अनेकों संरचनायें पूजास्थल तथा दीवारों पर की जाती हैं। ऐपणों का रेखांकन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि रेखाओं के समूह और पारंपरिक ऐपणों की समाप्ति बिंदुओं से हो। कुमाऊँ की स्त्रियाँ तन-मन व श्रद्धा से इस कार्य को करती हैं। वे इनकी पवित्रता का विशेष ध्यान रखती हैं। ऐपणों को धार्मिक प्रतीक मानकर कई पीढ़ियों से परंपरागत इन प्रतीकों का बनना आवश्यक समझा जाता है। आधुनिकता के साथ-साथ बदलते युग में गेरु व बिस्वार का स्थान रंग-रोगन व पेंट ने ले लिया है। और हाथ और उंगलियों के स्थान पर ब्रश व कूचियों का प्रयोग भी होने लगा है। आजकल तो 'ऐपणों' के स्टिकर भी बाजार में उपलब्ध हैं। जो भी हो पूजास्थल, घर, द्वार एवं प्रांगण में अल्पना के सहज व सुंदर आलेखन परंपरागत लोक कला को जीवन प्रदान करते हैं व यहां के जनमानस को युगों से चली आ रही इस परंपरा को जीवित रखने के लिये प्रेरित करते हैं। अंत में, मिथिला व कुमाऊँ की ये लोककलायें एक सामुदायिक आध्यात्मिक अनुभव की उपज हैं। अत: हमें इन्हें केवल एक सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिये। यह एक सामूहिक मस्तिष्क की अभिव्यक्ति है, जो हजारों वर्षों के पारंपरिक ज्ञान को मूर्तरूप प्रदान करती हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि ये कलायें भारतीय सभ्यता के अत्यधिक प्रामाणिक पहलू की अभिव्यक्ति हैं जो व्यक्ति को समाज से व समाज को व्यक्ति से जोड़ती हैं।

- नवीन जोशी
13 सी / पॉकेट ए
ग्रुप II, दिलशाद गार्डन,
दिल्ली

– डॉ. हर्ष नन्दिनी भाटिया

भारतीय संस्कृति में नारी–श्रृंगार : मेंहदी

नारी विधाता की सुन्दरतम कृति है। वह सृष्टि का श्रृंगार है और सुखमय जीवन की अनुपम निधि भी। नारी का रंग–रूप ईश्वरीय देन होने पर भी यदि उसे तनिक सजा–संवार लिया जाये तो स्वरूप में निखार आ जाता है, वह पुष्प के समान खिल उठता है और चाँदनी की भाँति दीप्तियुक्त हो जाता है। इस प्रकार श्रृंगार करना नारी का पूर्ण अधिकार बन गया। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ शनैः–शनैः सौन्दर्य प्रसाधन भी आविष्कृत होते गये और कालान्तर में सोलह श्रृंगार जन–जीवन के साथ साहित्य का विषय बन गये। नारी विविध प्रसाधनों एवं वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर अपने सहज सौन्दर्य को परिष्कृत करती है।

नारी के सोलह श्रृंगारों में मेंहदी रचाना एक अनूठा श्रृंगार है। मेंहदी भारतीय संस्कृति में अति प्राचीन और महत्वपूर्ण स्थान बना चुकी है। गुप्तकाल से निरन्तर मेंहदी का प्रचलन बढ़ता रहा है। आज भी मेंहदी बिना श्रृंगार पूर्ण नहीं होता। नववधू का श्रृंगार सर्व प्रथम तो मेंहदी से ही किया जाता है। भूमध्य सागर से कन्याकुमारी तक मेंहदी सभी कुमारिकाओं और सुहागिनों को अपने प्रेम की लालिमा से आकर्षित और प्रभावित करती रही है। मेंहदी रची रमणीय अंगुलियाँ रसिकों को रससिक्त और प्रेमकथाओं के लिए कवियों को गुदगुदाती रही हैं–

सुदीर्घा राग–शालिन्यो बहु–पर्वमनोहराः।
तैस्या बिरजु रगुल्य कामिनी सकथा ईव।।'

–पतली अनेक रूपायत मेंहदी से रंगे पोरोंवाली इसकी अंगुलियाँ रसिक पुरुषों के मन में स्नेह और प्रेम की कथाओं की स्मृति के समान सुशोभित थीं।

''मेंहदी'' शब्द अति प्राचीन और शुद्ध भारतीय है। अगरचन्द नाहटा ने नित्यनाथ सिद्ध के ''रस रत्नाकर'' नामक ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है जिससे सिद्ध होता है कि मेंहदी शब्द 850 वर्ष पूर्व भी भारत में प्रचलित था। सुप्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में तीन बार 'मदयन्तिका' के नाम से मेंहदी का उल्लेख हुआ है। मदयन्ती, मेन्दिका, नखरंजनी, मदयन्तिका, नखदिरागरंजवी महदी महीन्द्री इति प्रसिद्धा।।

मेहंदी की कलात्मकता — रेखांकन : डॉ. सुनयना भंडारी

मदयन्तिका 'नैंदी' इति लौके यस्याः पिष्टैः पत्रैः नखानां रागं स्त्रियाः उत्पादयन्ति।।

'मेन्दिका' शब्द संस्कृत में मिलता है जिसके साथ अन्य रूप 'मेघी' भी प्रचलित थे। इसका अर्थ मोनियर विलियम के संस्कृत कोश में रंगने के लिये प्रयुक्त होने वाला पौधा दिया है। यही शब्द कालान्तर में मैन्धी, मैघी, मेंहदी में द और ह के विपर्यय से मेंहदी, मेंदी, महंदी और मिंहदी आदि अनेक उच्चारण प्राप्त होते हैं।

मेंहदी का वनस्पति शास्त्रीय नाम Lawsonia Abba है जो लैटिन शब्द है। फ्रेन्च में Herme और अंग्रेजी में Henna Samphire कहा जाता है। परशियन में 'हिना' और अरेबियन इसे 'हिन्ना' कहते हैं। उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान आदि सभी प्रदेशों में मेंहदी नाम का ही प्रचलन है। साथ ही मेंहदी के श्रृंगार को शुभ और माँगलिक भी माना जाता है। विवाह से पूर्व रात को मेंहदी की रात की संज्ञा दी जाती है, जिसमें वर-वधू को मेंहदी लगाई जाती है। मेंहदी का गहरा लाल रंग दाम्पत्य प्रेम का प्रतीक माना गया है। नारियों का विश्वास है कि नववधुओं के प्रियतम के प्रेम और स्नेह का रंग अधिक प्रगाढ़ है – रंग लाती है हिना पत्थर पे पिस जाने के बाद।।

पावस की रंगीली, सजीली और रसीली ऋतु में लाल-लाल विभिन्न प्रकार की सुन्दर हथेलियों पर कलात्मक मेंहदी के सुरंग बूटे खिल उठते हैं जो अत्यन्त मनोहारी लगते हैं। मेंहदी रचाये बिना सभी व्रत और त्यौहार अधूरे माने जाते हैं। करवा चौथ, हरियाली तीज, रक्षाबन्धन, दीपावली, होली आदि सभी पर्वों पर कुमारिकाएँ और सुहागिनें अपने करतल और पगतल को मेंहदी के घोल से विविध चित्रकारी करके सजाती है – 'मेंहदी कर-पद रचना नव दसम अरगजा अंग।'

मेंहदी रचना-रचाना या माँड़ना भी उत्कृष्ट कला है। परम्परागत उत्तम आकृतियाँ-पत्तियाँ, स्वस्तिक, चाँद-सूरज, मोर-हंस, लहरिया-चौपड़, चक्र-घेवर, फूल-बेल आदि हथेलियों पर रचाए जाते हैं। मेंहदी द्वारा विभिन्न चित्र सजाने से हथेली अति सुन्दर लगने लगती है। मेंहदी का विशेष गुण है कि देखने में कुछ हरी-हरी पत्तियाँ पीसने पर लाल रंग में परिवर्तित हो जाती हैं। पत्तियों में लालिमा छिपी रहती है, जिसे प्रत्येक नहीं जान सकता। इसी प्रकार ईश विश्व के कण-कण में समाया हुआ है किन्तु किसी को दिखाई नहीं देता। कबीरदास जी ने यही भाव अपने दोहे में सहज रूप से दर्शा कर ईश्वर का अस्तित्व हर स्थान पर समाहित कर दिया है–

ज्यों मेंहदी के पात में लाली लखी न जाय।
त्यों कन-कन में ईस बसै दुनिया देखै नाय।।

मेंहदी की लालिमा प्रेम का प्रतीक है। हरी पत्तियों में अदृश्य रूप से लालिमा व्याप्त रहती है। उसी प्रकार सच्चा प्रेम भी कसौटी पर कसे जाने पर ही दृष्टिगत हो सकता है। इसके आधार पर वियोगी हरि ने वीरों को प्रोत्साहन देते हुए उनके वीरत्व को प्रकाशित किया है–

होत सूर सरनाम के चूर-चूर निज अंग।
पिसत-पिसत ज्यों सिला पै मेंहदी लावत रंग।।

मेंहदी का रंग ही ऐसा है कि पीसने और लगाने वाले हाथों को भी अपने रंग में रंग लेता है। खानखाना रहीम ने सुन्दर ढंग से इस भाव को यों प्रदर्शित किया है–

यों रहीम सुख होत है उपकारी के अंग।
बांटनवारै के लगैं ज्यों मेंहदी को रंग।।

मेंहदी का रंग और चित्रकारी-सुन्दर और प्रेम के रंग में रंग देने का कार्य कर आकर्षित करती है किन्तु धैर्य, परिश्रम और तपस्या का गुण भी सिखाती है। मेंहदी रचाने से पूर्व इसके सभी उपकरण एकत्र करने का उद्यम करना होता है। मेंहदी की ताजी हरी पत्तियाँ पीसकर रचाना सर्वोत्तम है। महीन पीसकर लसदार बनाने के लिए अरबी या भिंडी का रस तथा गहरा रंग लाने के लिए कत्था या नींबू का रस मिलाना होता है। तत्पश्चात् पतली व नुकीली सींक से चित्र बनाते रहें। मेंहदी का पाउडर भी बाजार में मिलता है। मेंहदी का कुछ घोल तैयार करके खूब फेंट लें तो उंगली से तार उठ आते हैं। उसी तार से अपनी इच्छा के अनुसार चित्र बना लें। पोलिथीन की थैली में मेंहदी भरकर थैली के निचले भाग में कैंची से एक छेद बना लें। थैली को ऊपर से दबाने से छेद से मेंहदी की पतली डोर-सी निकलेगी, उससे भी डिजाइन बन सकती है। वैक्स पेपर से भी थैली बनाएं तो सुविधा होगी। आजकल शहरों में प्लास्टिक के सुन्दर डिजाइनों के स्टैंसिल मिलते हैं। मथुरा में एक छोटी सी दुकान है जहाँ कृष्ण-गोपी-राधा, गोवर्धन-मन्दिर-सरोवर तथा मोर-तोता-हंस आदि के स्टेन्सिल उपलब्ध हैं। इनमें प्लास्टिक के पतले टुकड़े पर ऊपर से गाढ़ी मेंहदी रखने पर नीचे चित्र बन जायेगा। एक घंटे के उपरान्त छुड़ाकर सरसों का तेल मलें तो अधिक लालिमा रहेगी। बीच में शीघ्र न सूखने देने के लिए चीनी को घोलकर शर्बत लगाते रहे तो रंग देगी।

मेंहदी लगाई है नायिका ने बुंदकीदार जो स्वाभाविक रूप से हाथों में लगाई गई है, वह कवि सेनापति जी को कमल के ऊपर बैठी

मेहंदी की छटा   रेखांकन : डॉ. सुनयना भंडारी

हुई इन्द्रवधुओं की पंक्ति प्रतीत होती है–

मेंहदी की बिंदकी बिराजै तन बीच लाल
सेनापति देखि पाई उपमा विचारि है।
प्रात ही अनंद सौ अरुन अरविंद मध्य,
बैठी इन्द्रगोपिन की मानौ पतवारि है।

प्रमुख श्रृंगार होने के साथ ही मेंहदी स्वास्थ्य लाभ भी पहुँचाती है। मेंहदी में गर्मी दूर करने की अपूर्व क्षमता है। सिरदर्द, आँखें की जलन और व्याकुलता मिटाने के लिए वह औषध है। बाल रंगने के लिए मेंहदी प्रयोग में लाई जाती है। हिना का इत्र भी बहुत प्रसिद्ध है। देश-विदेशों में उसका इत्र भेजा जाता है। आँवले के तेल में मेंहदी की पत्तियों का रस डालकर बालों में लगाने से सफेद बाल काले हो जाते हैं।

राजस्थान में मेंहदी कण-कण में रमी हुई है। प्रत्येक शुभ कार्य में मेंहदी प्रयोग में आती है। मेंहदी ही अनेक महिलाओं की जीविका बनी हुई है। मेंहदी लगाने को आय का साधन बनाया गया है। राजमहल की सवारी गाड़ी में भी मेंहदी लगाने वाली महिलाओं की व्यवस्था की गई है जिससे विदेशी नारियाँ अधिक प्रभावित हुई हैं और चाव से मेंहदी रचाकर हर्षित होती हैं।

'मेंहदी रंग अनुराग सुरंगा। कर अरु चरन रचै तेहि रंगा।।'
'बयालीस लीला।।'

भक्त सूरदास जी ने मेंहदी का वर्णन नहीं किया है किन्तु परमानन्ददास जी ने भूषणों के साथ मेंहदी का उल्लेख किया है–

''नवग्रह गजरा जगमगै नव पौहोची चुरियन आगे।
अचल सुहाग भाग्य की लहरें हस्त हैं मेंहदी दागे।।
पद सं. 92
बिहारी ने मेंहदी का हृदयग्राही वर्णन किया है–
गडे बड़े छवि छाक छकि छिगुनी छौर छुटैन।
रहै सुरंग रंग रंगि वही नह-दी मेंहदी नैन।।'

'क्या मेंहदी लगाकर बैठे हो', आलस्य का द्योतक यह मुहावरा भी प्रचलित है।

मेंहदी अनेक गुणों से परिपूर्ण है। यह सत्य ही है कि मेंहदी प्रेम के समान धनवान है।

– डॉ. हर्ष नन्दिनी भाटिया
नन्न, भारती नगर, मैरिस रोड, अलीगढ़

डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव

चोलकालीन कला का सौन्दर्यशास्त्र

चोल वंश पल्लवों का उत्तराधिकारी राजवंश था, अत: उन्हें पल्लवों की कला-सम्पदा भी विरासत में मिली थी, जिसे चोल शासकों ने इस सीमा तक समृद्ध किया कि उनके शासन काल में द्रविड़ स्थापत्य एवं शिल्पकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। मंदिरों के निर्माण में जिस द्रविड़ शैली का आरम्भ पल्लवों के काल में हुआ, चोल नरेशों के काल में उसका अत्यधिक विकास हुआ। 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजराज तथा राजेन्द्र चोल के राज्यकाल में चोल साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर था। चोल सम्राटों ने अपनी शक्ति और ऐश्वर्य का प्रदर्शन भव्य तथा उत्तुंग शिखर मदिरों के निर्माण में किया। कलाविद् फर्गुसन के अनुसार चोल कलाकारों ने 'दैत्यों के समान कल्पना की तथा जौहरियों के समान उसे पूरा किया' (They conceived like giants and finished like jewellers).

चोल शिल्पियों ने चट्टान काटकर बनाये गये मन्दिरों की प्रणाली को छोड़ कर एक स्वतन्त्र रूप से खड़े पत्थर के मन्दिर बनाने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि इस काल के मकान शेष नहीं बचे हैं- केवल मंदिर ही शेष हैं। चोल मंदिरों में पूजा-स्थल के केन्द्रीय कक्ष पर बल दिया जाता था जिसमें प्रवेश के लिए एक या दो बड़े कक्षों को - मंदिरों के आकार के अनुसार - पार करके जाना पड़ता था और उनके ऊपर लगभग पिरामिड की शक्ल का एक लम्बा शिखर होता था जो मन्दिर के आकार के अनुपात में होता था। मंदिर को चारों ओर घेरकर एक चौक होता था साथ ही चारों ओर की दीवार के अंदर की ओर खम्भों की श्रेणी होती थी, जैसा कि तंजोर तथा गंगईकोंडा-चोल-पुरम् के मंदिरों में है। प्रवेश के लिए शिखर की शैली पर ही बने हुए अलंकृत प्रवेश-द्वार होते थे। धीरे-धीरे इन प्रवेश-द्वारों पर अधिक बल दिया जाने लगा, यहाँ तक कि ये शिखर से बराबरी करने लगे जैसा कि मदुरई के मीनाक्षी मंदिर और त्रिचनापल्ली के निकट स्थित श्रीरंगम मंदिर से स्पष्ट है।

पत्थर की मूर्तिकला बहुत कुछ शिल्प-कला की सहायक होती थी। इनका उपयोग बहुधा खम्भे के ऊपर कार्निस के ठीक नीचे के भाग में तथा स्तम्भों और जंगलों (जालियों) की सजावट में होता था। परन्तु काँसे की मूर्तियों के निर्माण में चोल शिल्पी बेजोड़ थे, और वे संसार के किसी भी भाग में निर्मित मूर्तियों की अपेक्षा श्रेष्ठ मूर्तियों का निर्माण करते थे। ये मूर्तियां मुख्यतया देवताओं, दानदाताओं तथा सन्तों की होती थीं और इनका निर्माण एक कलात्मक-प्रक्रिया से होता था तथा वे मन्दिर के आन्तरिक पूजागृह में रखी जाती थीं। ये मूर्तियां दक्षिण के कारीगरों की मूर्तिकला सम्बन्धी प्रतिभा की ओर विशेष रूप से इंगित करती हैं।

चोल कालीन मंदिर-स्थापत्य कला को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में दशवीं शताब्दी तक निर्मित प्रारम्भिक चोल मंदिर हैं, जिनमें तिरू कट्टलाई का सुन्दरेश्वर मन्दिर, नरतमालै का विजयालय मंदिर एवं कदम्बर मलाई मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दूसरे वर्ग के चोल-कालीन मन्दिर स्थापत्य कला का युग तंजावुर के बृहदीश्वर मंदिर के साथ प्रारम्भ होता है। यह

बृहदीश्वर मंदिर

मंदिर द्रविड़ मंदिर-स्थापत्य कला शैली का पूर्ण विकासमान रूप है। और इसके निर्माण के दो शताब्दियों बाद तक चोलों ने सम्पूर्ण सुदूर दक्षिण एवं श्रीलंका में श्रृंखलाबद्ध रूप में अनेक मंदिरों का निर्माण कराया। चोलों ने मंदिरों के निर्माण के लिए प्रस्तर खण्डों एवं

शिलाओं का प्रयोग किया। इस काल के मंदिरों का आकार बहुत विशाल और इनका धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक प्रयोजनों के लिए भी उपयोग किया जाता था। इतने विशाल मन्दिरों की व्यवस्था के लिए मन्दिरों को प्रभूत भूमि अनुदान प्रदान किये गये और सैकड़ों सेवकों को नियुक्त किया

विमान जंघा द्वार, बृहदीश्वर मंदिर

गया। परिणाम स्वरूप, चोलकालीन मंदिर विशाल भूस्वामी एवं नियोजक भी थे। सिंचाई संसाधानों के विकास एवं हस्तशिल्प को संरक्षण प्रदान करने में भी चोल मंदिरों ने योगदान दिया। इस प्रकार चोल कालीन मंदिरों की आर्थिक भूमिका भी थी।

तंजौर का भव्य शैव मंदिर, जो राजराजेश्वर अथवा बृहदीश्वर नाम से प्रसिद्ध है, का निर्माण राजराज प्रथम के काल में हुआ था। भारत के मंदिरों में सबसे बड़ा तथा लम्बा यह मन्दिर एक उत्कृष्ट कलाकृति है जो दक्षिण भारतीय स्थापत्य के चरमोत्कर्ष को द्योतित करती है। भारतीय वास्तु कलाकारों द्वारा बनाए गए मंदिरों में यह विशाल मंदिर है। मंदिर 180 फुट लम्बा है और इसके पिरामिड आकार का शिखर 196 फुट ऊँचा है। इससे मंदिर के आकार की विशालता तथा इसके बनाने में साहस और कौशल का परिचय मिलता है। इस मंदिर के चार भाग एक-दूसरे से सम्बद्ध एक ही धुरी पर बने हुए हैं। नंदी मण्डप, अर्द्ध मंडप तथा गर्भगृह, सारा मन्दिर एक चार दीवारी के भीतर बना हुआ है। मंदिर का सबसे महत्वपूर्ण अंग है - गर्भगृह तथा शिखर (विमान)। यह तीन भागों में बाँटा गया है: (i) आधार-यह 42 फुट वर्ग क्षेत्रफल में बना है और 50 फुट ऊँचा है। यह आधार बीच में बनी हुई कार्निस द्वारा दो भागों में विभक्त है। इन दोनों भागों के बाहरी हिस्से अनेक प्रकार के वास्तुकला के अलंकरणों से सुसज्जित हैं जैसे ज्ञानवृक्ष अथवा मूर्तियां; (ii) विमान का मध्य भाग ऊपर की ओर पतला होता गया है। पिरामिड आकार का यह भाग तेरह मंजिलों में बनाया गया है। ऊपर की मंजिलें बराबर छोटी होती गई हैं। परिणामस्वरूप सबसे ऊपर की मंजिल सबसे नीचे की मंजिल का एक तिहाई भाग रह गया है; (iii) मंदिर का शीर्ष भाग ऊपरी भाग होता है और एक गोलाकार गुंबद के रूप में है। इसके चारों ओर पंखदार ताखे बनाए गए है। पर्सी ब्राउन का मत है कि तंजौर का बृहदीश्वर मंदिर द्रविड़ शिल्प कला की सर्वोत्तम कृति है और भारतीय वास्तुकला की कसौटी है।

चोलों के वैभवकाल में बनाया गया दूसरा मंदिर गंगैकोंड चोलपुरम का मंदिर है। इसका निर्माण राजराज के पुत्र राजेन्द्र चोल के शासन-काल में हुआ। यह 340 फीट लम्बा तथा 110 फीट चौड़ा है। इसकी शैली तंजौर मंदिर की शैली के ही समान है। इसका शिखर 150 फुट ऊँचा है। इस मंदिर का विमान, बृहदीश्वर मंदिर की ही भांति, तीन भागों में विभक्त है। मंडप कम ऊँचा है किन्तु इसमें 150 स्तम्भ हैं। इस स्तम्भ युक्त मंडप में हमें बाद में आने वाले मंदिरों के सहस्त्र स्तम्भ वाले मण्डपों की शुरूआत परिलक्षित होती है। तंजौर मंदिर में शक्ति, सन्तुलन और गांभीर्य अधिक है जबकि गंगैकोंड चोलपुरम के मंदिर में मार्दव, सौन्दर्य और विलास अधिक है। इन दो विशाल स्मारकों से सिद्ध होता है कि चोल काल में वास्तुकला

लक्ष्मी प्रतिमा, बृहदीश्वर मंदिर

चरमोत्कर्ष पर थी। इन मंदिरों के निर्माण के साथ ही ऐसा दिखाई देता है कि वास्तुकला की गतिविधि का प्रबल वेग क्षीण हो चला था। इसके बाद कोई विशेष उल्लेखनीय मंदिर नहीं बने।

राजेन्द्र चोल के उत्तराधिकारियों के समय में भी मंदिर निर्माण की गति जारी रही। इस दौरान कई छोटे-छोटे मंदिरों का निर्माण किया गया। इनमें मंदिर की दीवारों पर अलंकृत चित्रकारी एवं भव्य मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। राजराज द्वितीय तथा कुलोत्तुंग तृतीय द्वारा बनवाये गये क्रमशः दारासुरम का ऐरावतेश्वर मंदिर तथा त्रिभुवनम् का कम्पहरेश्वर मंदिर अत्यन्त भव्य एवं सुन्दर है। इन मंदिरों का निर्माण भी तंजौर मंदिर की योजना पर किया गया है। ऐरावतेश्वर मन्दिर में महामण्डप के सामने अग्रमण्डप बनाये गए हैं। ये पहियेदार रथ की भाँति हैं जिन्हें हाथी खींच रहे हैं। इनमें अलंकृत स्तम्भ लगे हुए हैं। सूर्य का मंदिर (कोणार्क) इससे प्रभावित लगता है। कम्पहरेश्वर, जिसे त्रिभुवनेश्वर भी कहा जाता है, की योजना भी ऐरावतेश्वर मंदिर के ही समान है। इसमें मूर्तिकारी की अधिकता है। मूर्तियां कलात्मक दृष्टि से भी अच्छी है। नीलकण्ठ शास्त्री जी ने इसे मूर्ति दीर्घा से सम्बोधित किया है।

नटराज (शिव) चोलकालीन

चोलों ने अपनी महानता एवं गौरव गाथा के झण्डे तक्षणकला के क्षेत्र में भी गाड़े हैं। चोलों ने पत्थर तथा धातु की बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण किया। उनके द्वारा निर्मित मूर्तियों में देवी-देवताओं की मूर्तियाँ ही अधिक है। कुछ मानव मूर्तियां भी प्राप्त होती हैं। चूँकि चोलवंश के अधिकांश शासक उत्साही शैव थे, अतः इस काल में शैव मूर्तियों का निर्माण ही अधिक हुआ। इस काल में पाषाण मूर्तियों की अपेक्षा धातु (कांस्य) मूर्तियों का निर्माण अधिक हुआ। सर्वाधिक सुन्दर मूर्तियां नटराज (शिव) की हैं। इनकी पूजा दक्षिण में विशेष रूप से होती है। नटराज की एक विशाल प्रतिमा त्रिचनापल्ली के तिरूभरंग कुलम में प्राप्त हुई है। वह इस समय दिल्ली संग्रहालय में है। यहीं से शिव अर्द्धनारीश्वर रूप की एक मूर्ति मिलती है जो मद्रास संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें नारी तथा पुरूष की शारीरिक विशेषताओं को उभारने में कलाकार को विशेष सफलता मिली है। साथ ही ब्रह्मा, विष्णु, लक्ष्मी, भूदेवी, राम-सीता, कालिया नाग पर नृत्य करते हुए बालक कृष्ण तथा कुछ शैव सन्तों की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं जो कलात्मक दृष्टि से भव्य एवं सुन्दर हैं। एक विशिष्ट विद्या की शुरूआत यहीं से मानी जाती है। चोल मूर्तिकला मुख्यतः वास्तुकला की सहायक थी और यहीं कारण है कि अधिकांश मूर्तियों का उपयोग मंदिरों को सजाने में किया जाता था। इनमें धातु मूर्तियाँ ही स्वतंत्र रूप से निर्मित हुई हैं।

चित्रकला का विकास चोलों की महत्वपूर्ण विशेषता रही है। इस युग के कलाकारों ने मंदिरों की दीवारों पर अनेक सुन्दर चित्र उत्कीर्ण करवाये। बृहदीश्वर मन्दिर की दीवारों के चित्र आकर्षक एवं कलापूर्ण हैं। इन चित्रों में पौराणिकता का बाहुल्य हैं। यहाँ शिव की विविध लीलाओं से सम्बन्धित चित्रकारियां प्राप्त होती हैं। इसमें प्रमुख राक्षस का वध करती हुई दुर्गा तथा दूसरा राजराज को सपरिवार शिव की पूजा करते हुए प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार चोल राजाओं के शासन-काल स्थापत्य, तक्षण-कला तथा चित्रकला का चरमोत्कर्ष काल रहा है। साथ ही साथ ये चोल सम्राटों की महानता एवं गौरव गाथा को आज भी सारे जहां में सूचित कर रहे हैं।

- डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव
प्रवक्ता - हिन्दी विभाग,
दयानंद वैदिक स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, उरई, जालौन

– मीमांसक

इतिहास के यायावर

पृथ्वी एक पुस्तक है और समंदर, नदी, नाले, झरने, पहाड़, रेगिस्तान, पेड़-पौधे, वन्य जीव, इंसान, उसके बनाये मंदिर, मस्जिद, गिरजा, किले, महल आदि सभी उस पर अंकित जीवंत रचनाएँ। एक चीनी कहावत है – सौ पुस्तकें पढ़ने से अच्छा है आप सौ मील की यात्रा कर आयें। यात्रा ज्ञानवर्धन का, पृथ्वी की जीवंत रचनाओं को समझने का सबसे पुराना व सशक्त माधयम है। इतिहास के कई मनीषियों का जीवन गतिशीलता की मुखर कथा रहा है। उन्हें हम लगातार घूमता पाते हैं – आज यहाँ तो कल वहाँ। हर जगह के जीवन को अपने अंदर समेटते, वहाँ के अहसासों, अनुभवों से अपने-आप को समृद्ध बनाते। बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक निरंतर घूमते रहे थे। गांधी भी तभी गांधी बने जब अपने राजनीतिक गुरू गोखले की सलाह पर घूम-घूम कर देश देख डाला। घूमने का अर्थ वस्तुत: अपने आप को विस्तारित करना होता है, अपने मानसिक क्षितिज को फैलाव देना, सहिष्णु बनाना होता है। कुएँ का मेंढ़क बनना शायद जीवन के अमूल्य अस्तित्व को दी जाने वाली सबसे बुरी सज़ा है।

यात्रा की कल्पना मात्र कई लोगों को उत्तेजना की थरथराहट से भर देती है। आलम यहाँ तक रहता है कि रेलवे टाइम टेबुल या किसी भी इलाके के मानचित्र का पृष्ठ भर खोलते ही कागज के वे निर्जीव पन्ने सजीव बन किस्म-किस्म की चाक्षुष, कल्पनात्मक अनुभूतियों का सौगात लेकर उभरने लगते हैं।

आदमी का एक पहलू जहाँ यायावर है वहीं एक जगह टिक कर सुरक्षित, निश्चिंत भाव से 'घरघुस्सू' बन कर बैठे रहना भी उसे कम प्रिय नहीं। धरती और उसके 'सरप्लस' ने हजारों साल के दौरान एक ऐसी भौतिकता को जन्म दिया जिसने आज इंसान को एक मजबूत खूँटा बन कर बाँध लिया है। कभी कबीलों में लगातार गतिशील बना रहने वाला इंसान आकाश की ओर निरंतर भागती चली जा रही इमारतों के बीच सिमटता चला जा रहा है। इस विसंगत स्थिति के व्यावसायिक दोहन के लिए पूरी दुनियाँ में आज पर्यटन एक बहुत बड़े उद्योग के रूप में उठ खड़ा हुआ है। यह उद्योग भांति-भांति के उपाय अपना कर इंसान को घरघुस्सूपन से निजात दिला, पीठ पर 'रकसैक' लाद दुनियाँ भर में छितरने के लिए मजबूर कर रहा है। किसी ज़माने में धर्म ने भी यही भूमिका निभाई थी। धर्म द्वारा तीर्थयात्रा की सिफारिश, इंसान को उसकी जड़ता से निकाल, सामुदायिक तौर पर उसके मानसिक क्षितिज को व्यापक बनाने का प्रयास था। बौद्ध, जैन, हिन्दू, यहूदी, पारसी, ईसाई, इस्लाम सभी धर्मों में इंसान को गतिशील बनाये रखने के लिए दूर-दूर तक छितरे तीर्थ स्थलों की यात्रा की सिफारिश की गई है। हिन्दुओं में देश के चार कोनों के धाम, ढेरों प्रयाग, ज्योतिर्लिंग, पीठ आदि का एक ऐसा विशाल जाल-सा बना हुआ है जिस पर इंसान यदि सारी ज़िन्दगी भी चलता रहे तो भी वे खत्म न हों। पश्चिमी छोर पर शुष्क तपते हिंगलाज का अस्तित्व था तो उत्तर दिशा में शीत में जमे कैलास-मानसरोवर, अमरनाथ, केदारनाथ व बदरीनाथ जैसे दुर्गम हिमालयी क्षेत्रों का, दक्षिण में रामेश्वरम तो पूरब में सागर तट पर स्थित पुरी, और इन सभी छोरों के बीच स्नायु-तंत्र-से फैले असंख्य छोटे-बड़े तीर्थ-स्थल। किलोमीटर में कभी तीर्थस्थलों की दूरी का हिसाब-किताब निकाला जाये तो आश्चर्यजनक आंकड़े सामने आयेंगे। जब पढ़ता हूँ कि 7 वीं शती में बुद्ध-प्रभामंडल से खिंचे ह्वेन त्सांग चीन से बीहड़, दुर्गम रास्तों को पार कर दस हजार किलोमीटर से भी अधिक की यात्रा कर भारत आये थे, तो आश्चर्य होता था पर इस मुल्क में सदियों से असंख्य ऐसे तीर्थ यात्री हुए जिन्होंने एक सतत

महायात्री ह्वेन त्सांग

धार्मिक साधना के तहत तीर्थ रूपी अपने उन मील के पत्थरों को जीवनपर्यन्त मापा होगा और शायद दूरी तय करने में कई हवेनत्सांगों को मात कर दिया होगा।

यात्रा करना सिर्फ एक 'वैयक्तिक' कृत्य नहीं होता उसके पीछे समाज के दर्शन, उसकी वास्तविकताओं, उसकी माँगों का भी दबाव रहता है। उसी दबाव के तहत भारत के सांस्कृतिक इतिहास में सदियों से न जाने कितने देश व महादेशों से यात्री आये। उन यात्रियों में बहुतों के नाम स्मृति के पन्नों से गुम हो चुके हैं। पर कुछ नाम भाग्यवश सुरक्षित बचे हैं। एडवेंचर प्रेमी उन जिज्ञासु यात्रियों की सूची पर निगाह डालने से कुछ रोचक निष्कर्ष उभरते हैं। मौर्य काल से लेकर 1857 की क्रांति, जिसके बाद भारत प्रत्यक्ष तौर पर अंग्रेजी शासन के अधीन आ गया था, तक विदेशी यात्रियों के नामों के अवलोकन से हमें साफ तौर पर उनकी यात्रा के मकसद में एक 'पैटर्न' झलकता है। और उस 'पैटर्न' के केन्द्र में था तद्युगीन विश्व-परिप्रेक्ष्य में आर्थिक-सांस्कृतिक दृष्टि से भारत की अहमियत को स्वीकृति दिया जाना। चाहे मसाले हों या बुद्ध या फिर मध्यकाल में यहाँ के भौतिक व दार्शनिक ऐश्वर्य को लेकर दुनियाँ भर में फैली ढेरों किंवदंतियाँ--इन सबके कारण सैकड़ों बाधाओं को पार करते, कष्टों को झेलते यात्री यहाँ अलग-अलग रूपों में बराबर खिंचते ही चले आये। वे कभी व्यापारी बन कर आये तो कभी दूत और शासक बन कर। कभी धर्म-जिज्ञासु बन कर आये तो कभी मिशनरी। कभी चित्रकार और कवि बन कर आये तो कभी लेखक और कलाकार। सबका यहाँ स्वागत हुआ, सबको यहाँ की धरती ने अनूठे अहसास दिये, बौद्धिकता के समृद्ध उपहार दिये। उन दिनों समुद्री थपेड़ों, तूफानों, डाकुओं, रेगिस्तानों, जंगल, जानवर, चोर-उचक्कों, दुर्लंध्य पर्वत श्रृंखलाओं, दर्रों, घाटियों, बीमारी आदि से जूझते हुए यात्राएँ की जाती थीं। इस सबके बावजूद भारत आने का आकर्षण इतना प्रबल था कि यहाँ यात्री आते रहे और वापिस अपने देश जाकर भारत नामक 'मिथक' को और आकर्षक बनाते रहे। कुछ यात्री कभी वापिस नहीं जा सके। यहीं की दो गज़ ज़मीन में चैन की नींद सो लिये। यूनान, चीन, तिब्बत, अरब, ईरान, इंग्लैंड, रूस, फ्रांस, जर्मनी, हॉलैंड, पुर्तगाल, अमरीका, इटली, अरब, तुर्की, स्कैंडेनेविया, स्वीट्जरलैंड आदि मुल्कों से लोग यहाँ आये। ये लोग जमीन व समुद्र के उन रास्तों से आये जिससे सदियों से भारत का व्यापार विश्व के देशों के साथ होता चला आया था।

दुनियाँ के मुल्कों के साथ भारत के ये व्यापारिक-सांस्कृतिक संबंध कब से कायम थे इस सवाल पर गौर करें तो ऐसे संबंधों के प्रमाण हमें सिंधु घाटी सभ्यता के दौर से ही नज़र आने लगते हैं। पश्चिमी एशिया के प्राचीन साहित्य में सिंधु-घाटी क्षेत्र के देश के लिए 'मलूहा' शब्द का प्रयोग आया है। सूसा, उर आदि की पुरातात्विक खुदाई में सिंधु घाटी की सीलों का प्राप्त होना इस बात का द्योतक है कि दोनों इलाकों के बीच गहरे ताल्लुकात थे। इसी प्रकार 1981 में फारस की खाड़ी के ओमान में एक पुरास्थल से खुदाई के दौरान मिट्टी के ठीकरे पर सिंधु-लिपि के संकेत मिले। उधर मिस्र के पिरामिडों में फराओ की कब्र में भारतीय वस्त्र व अन्य सामग्रियों का प्राप्त होना भारत-मिस्र के प्राचीन व्यापारिक-सांस्कृतिक संबंधों की ओर इशारा है। इतिहास में इस बात

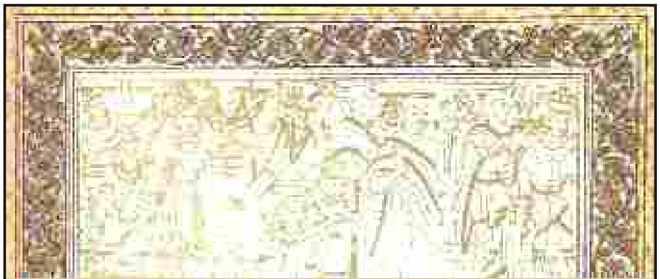

बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अशोक द्वारा प्रेषित मिशन
(भारतीय संविधान की मूल प्रति पर नंदलाल बोस विरचित अंकन)

का जिक्र है कि बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अशोक ने न सिर्फ यूनान एवं मिस्र की ओर मिशनरियों को भेजा था बल्कि श्रीलंका, दक्षिण पूर्व एशिया, चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत तथा मंगोलिया के लिए भी बौद्ध-भिक्षुओं को भेजा था। स्वयं उनके बेटे और बेटी भी इस साहसिक कार्य में संलग्न हुए थे। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में युह-ची कबीले की एक शाखा, कुषाणों ने जब यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया तो भारत और चीन के बीच व्यापारिक-सांस्कृतिक संबंध तेजी से बढ़े। इसी प्रकार रोमन साम्राज्य और भारत के राज्यों, खास तौर पर दक्षिणी राज्यों के बीच ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास से ही अच्छे व्यापारिक-सांस्कृतिक संबंध कायम हो चुके थे। पांडिचेरी के पास इरिकमेडु तथा आंध्रप्रदेश में नागार्जुनकोंडा की पुरातात्विक खुदाई प्राचीन भारत-रोम संबंधों पर

प्रकाश डालती है। ग्रीस और रोम के भूगोलवेत्ता तो भारत के भौगोलिक तथ्यों से बहुत पहले से ही परिचित थे। ईस्वी सन् के आरंभ में जब दक्षिण-पश्चिम मानसून का पता लगा तो पश्चिम की ओर से व्यापारियों का आना बढ़ गया। माना जाता है कि सेंट थॉमस ने 21 ई0 से 52 ई0 के दौरान भारत में धर्म-प्रचार किया था। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि 68 ई0 के आसपास रोमन प्रतारणाओं से बचने के लिए यहूदियों की एक आबादी दक्षिण भारत पहुँच कर मालाबार के पास बस गई थी। 70 ई0 में येरूशलम के विनष्ट होने के बाद कई यहूदी व्यापारी मालाबार तट पर आ बसे थे। व्यापारियों के लिए भारत और खास तौर पर यहाँ के मसाले आकर्षण का बहुत बड़ा कारण थे। उस समय के भारतीय मसालों के व्यापार पर टिप्पणी करते हुए प्लिनी (23-79 ई0) ने लिखा है कि भारतीय मिर्च व अदरक की रोम में बेहद माँग थी और वे इतने कीमती थे कि उन्हें सोने-चाँदी की तरह सावधानी से तोलकर खरीदा-बेचा जाता था। इन पौर्वात्य उत्पादनों को खरीदने के लिए रोमन साम्राज्य द्वारा बहुत बड़ी रकम अदा की जाती थी। विश्व के मुल्कों के साथ भारत का यह व्यापारिक संबंध मुगलकाल तक निरंतर कायम रहा। तत्कालीन

मध्ययुगीन योरोप के नाविकों की समुद्र यात्रा : चौदहवीं शती की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ

दक्षिण भारत के तट पर मसालों का व्यापार : मार्को पोलो की पुस्तक का एक पृष्ठ

विश्व में भारत की समृद्धि को ध्यान में रखें तो दरअसल यह एक अनिवार्यता भी थी। इसे देखते हुए ही शायद हीगल ने यह टिप्पणी की थी, "पुराने काल के सभी देश भारत की संपदा को हासिल करने के लिए लालायित रहते थे।" एक साधारण-सा तर्क है कि व्यापार के आरंभ होने से पहले दोनों पक्षों द्वारा एक-दूसरे के संबंध में काफी तहकीकात की जाती है तथा जानकारियों व सूचनाओं का आदान-प्रदान होता है, तथा बगैर यात्राओं के यह संभव ही नहीं। इतिहास में पुराने समय से विश्व के विभिन्न क्षेत्रों से भारत का व्यापार होता दीख रहा है इसका मतलब यह है कि निश्चित तौर पर यात्राएँ भी होती रही होंगी। पर दुर्भाग्यवश किसी भी रूप में यहाँ आये यात्री, चाहे वे व्यापारी हों या धर्म अथवा ज्ञान-पिपासु, उस काल के यात्रियों के द्वारा दर्ज़ किया गया कोई भी विवरण आज उपलब्ध नहीं है।

ईसा पूर्व काल से लेकर 1000 ई0 तक यहाँ आये उन यात्रियों के नाम, जिनका विवरण अथवा नामोल्लेख हमें मिलता है, पर निगाह डालें तो उनमें से अधिकतर यूनान, चीन, अरब, ईरान, तिब्बत आदि मुल्कों से आये थे। ये लोग मुख्यत: धर्म-जिज्ञासु अथवा ज्ञान-पिपासु थे। कुछ लोग वैसे उनमें दूत-कर्म अथवा सैन्य संचालन से जुड़े अधिकारी भी थे। पर 'पैटर्न' के लिहाज से प्रमुखता धर्म या ज्ञान-पिपासु यात्रियों की दीखती है। ऐतिहासिक साक्ष्यों की प्रचुरता की कमी को ध्यान में रखते हुए इन लोगों के वृत्तांत तत्कालीन भारत की परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाले बेहद महत्वपूर्ण स्रोत हैं। सातवीं शती के दूसरे दशक में भारत आये एक तिब्बती अध्येता-यात्री थोन्मी संभोट का उल्लेख किया जाना इसलिए आवश्यक है क्योंकि इस यात्रा के पश्चात् वे ज्ञान का जो भंडार लेकर वापिस तिब्बत लौटे, उसने तिब्बत के सांस्कृतिक स्वरूप में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया था। थोन्मी संभोट को हर्षवर्धन के आंशिक रूप से समकालीन रहे तिब्बत के प्रतापी राजा स्त्रांग त्सान

गाम्पो (629-650 ई0) ने भारत भेजा था। थोन्मी जब लौट कर वापिस तिब्बत पहुँचे तो न सिर्फ कई बौद्ध ग्रंथ, बुद्ध मूर्तियाँ व पश्चिमी गुप्त लिपि (जो देवनागरी लिपि का एक स्वरूप थी तथा बाद में चलकर तिब्बती लिपि का मूल आधार बनी) उनके साथ थी, बल्कि वे स्वयं भी बुद्धमय हो चुके थे। राजा गाम्पो थोन्मी से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें गुरू स्वीकारते हुए बौद्ध धर्म को स्वीकार लिया और उसके बाद तिब्बत के सांस्कृतिक-धार्मिक परिदृश्य में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया।

ग्यारहवीं से लेकर चौहहवीं शती में भी यात्री मुख्य रूप से अरब, तिब्बत, चीन, ईरान, अफ्रीका आदि इलाकों से आये। पर इस काल में हमें जर्मन, रूसी, इतावली, चेक आदि यात्रियों के आने की शुरूआत होती भी दीखती है। ध्यान रखना चाहिए कि चौदहवीं शती यूरोप के लिए रेनांसां का आरंभिक दौर था और उसके कुछ काल बाद औपनिवेशिक विस्तारवाद की शुरूआत हो जाती है।

पंद्रहवीं, सोलहवीं शती में पश्चिमी देशों, खासतौर पर पुर्तगाल, इटली, रूस, पोलैंड, जर्मनी, इंग्लैंड, फ्रांस, हॉलैंड आदि देशों से यात्रियों का आगमन एकाएक बढ़ जाता है। पर उसके साथ-साथ चीन, ईरान, अफगानिस्तान जैसे एशियाई मुल्कों से भी यात्रियों का आना यहाँ बना हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह वह काल है जब उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति एक स्पष्ट स्वरूप लेने लगती है तथा पूरे ग्लोब पर योरोप के चंद राष्ट्रों की औपनिवेशिक विस्तारवाद की वक्र दृष्टि पड़ने लगती है। भारत के दो क्षेत्रों गोवा और दमन एवं दीव द्वीपों को तो 16वीं शती के पहले दो दशकों में ही पुर्तगालियों ने अपने अधीन कर लिया था।

सत्रहवीं शती में योरोपीय ताकतों द्वारा उपनिवेशों की खोज के काम में तेजी आई तो उसका सीधा असर हमें भारत आने वाले यात्रियों पर पड़ता दीखता है। इस समय मुख्य रूप से इंग्लैंड, फ्रांस, इटली, जर्मनी, पुर्तगाल, डेनमार्क, हॉलैंड, पोलैंड, रूस आदि जैसे देशों से यात्री यहाँ आये थे। इनमें से ज्यादातर वे देश हैं जो उपनिवेशवाद की दौड़ में सबसे आगे रहे थे।

अठारहवीं शती तक पहुँचते-पहुँचते भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद का एक प्रमुख गंतव्य (डेस्टिनेशन) बन चुका था। इस शती में आये तकरीबन सत्तर से ऊपर यात्रियों की मेरे पास जो सूची उपलब्ध है उनमें से 40 नाम तो सिर्फ इंग्लैंड के हैं। वैसे फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, हॉलैंड आदि देशों के भी यात्री इस दौर में आये।

19 वीं शती में भी यही परिदृश्य बरकरार रहा। लगभग सारा भारत इस शताब्दी के मध्य तक सीधे तौर पर अंग्रेजी उपनिवेशवाद के अधीन आ चुका था। इसलिए यात्रियों की जो सूची बनती दीखती है उसमें सबसे ज्यादा नाम स्वाभाविक रूप से अंग्रेज यात्रियों के ही हैं। वैसे फ्रांस, जर्मनी, स्कॉटलैंड, रूस, हंगरी, डेनमार्क आदि देशों के भी यात्री इस समय यहाँ आये थे। दिलचस्प बात है कि इस समय अमरीका और कनाडा जैसे देशों के यात्रियों ने भी यहाँ आना शुरू कर दिया था।

विभिन्न शताब्दियों में भारत आये यात्रियों के इस पैटर्न पर विहंगम दृष्टि डालने के बाद जब हम दुनियाँ के इतिहास में भारत संबंधी विवरणों की प्राचीनता की पड़ताल आरंभ करते हैं तो भारत का सबसे पुराना विवरण हमें यूनानी इतिहासकार हिरोडोटस (416-398 ई0 पू0), डायोडोरस, स्ट्रावो, प्लूटार्क आदि की पुस्तकों में दीखता है। वैसे माना यह जाता है कि भारतीय तथा ग्रीक दार्शनिकों के बीच वैचारिक संबंध उससे भी बहुत पहले कायम हो चुके थे। एक अनुश्रति के मुताबिक तो पायथागोरस (लगभग 580 ई0 पू0) ने भारत आकर यहाँ के दर्शन का अधययन भी किया था। योरोप में इतिहासकारों तथा दार्शनिकों द्वारा लिखित ये वो आरंभिक पुस्तकें हैं जिनके माध्यम से यूनान व योरोप के लोगों को भारत के संबंध में जानकारी प्राप्त होने लगी थी। इन विवरणों के कारण ही यूनान व यूरोप के लोग भारत की ओर खिंचते चले आ रहे थे।

भारत आये यात्रियों में सबसे पुराना नाम यूनानी यात्रियों का मिलता है। यूँ तो यूनान के साथ भारत के संबंध काफी पुराने रहे हैं पर इतिहास के पन्नों में स्काइलैक्स, नेरकॉस, मेगास्थनीज, डायोनिसियस तथा कॉस्मस इंडिकोप्लेउसतस आदि जैसे कुछ प्रमुख नाम ही शेष नजर आते हैं।

छठी शती ईसा पूर्व में कैरियांडा के इतिहासकार व भूगोलवेत्ता स्काईलैक्स द्वारा भारत के पश्चिमी इलाकों का किया गया वर्णन किसी भी यात्री का "इतिहास के पन्नों में सुरक्षित बचा" पहला वर्णन

है। स्काईलैक्स को दरअसल फारस के सम्राट डेरियस प्रथम ने सिंधु नदी के बारे में जानकारियाँ इकट्ठी करने के लिए भेजा था।

काल क्रम में इसके बाद नेरकॉस का विवरण मिलता है। मकदूनियाँ के नेरकॉस सिकंदर की उस सेना में एडमिरल थे जो भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर 326 ई0 पू0 में पहुँची थी। नेरकॉस ने सैन्य संचालन के क्रम में झेलम, सिंधु आदि नदियों तथा उसके आसपास के इलाकों की जो यात्राएँ कीं, उसका उन्होंने वृत्तांत रखा था। हम जानते हैं कि भारत के उत्तर-पश्चिमी इलाके की कपास काफी अच्छी होती है। भारतीयों की वेशभूषा का अवलोकन करने के क्रम में उस कपास पर टिप्पणी[1] करते हुए एक स्थल पर वे कहते हैं, "भारत में जैसी कपास होती है वैसी शायद दूसरी जगह नहीं होती। वह काले भारतीयों पर कुछ ज्यादा ही सफेद नजर आती है।" नेरकॉस के अलावा सिकंदर (326 ई0 पू0) के साथ ओनेसिक्रिटस, भूगोलवेत्ता अरिस्टोब्युलस व लेटरकस भी भारत आये थे। इन लोगों ने भारत के अपने प्रवास का विवरण रखा था। ओनेसिक्रिटस का विवरण अतिशयोक्तियों से भरा हुआ था इसलिए इतिहासकार अरियन ने जब वृत्तांतों का संकलन किया तो उसे अतिशयोक्तियों के कारण तथा लेटरकस के विवरण को लेखक द्वारा बेहद वृद्धावस्था में लिखे जाने के कारण संदेहास्पद मान कर संकलन में स्थान नहीं दिया। यानी ले देकर ईसा से पूर्व नेरकॉस का विवरण ही भारतीय इतिहास की दृष्टि से एकमात्र महत्व का है।

नेरकॉस तो भारत के पश्चिमी छोर से ही वापिस लौट गये थे पर एक अन्य यूनानी यात्री मेगास्थनीज जब 302 ई0 पूर्व में चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में सेल्युकस के राजदूत बन कर आये तो उन्होंने उत्तर-पश्चिमी सीमांत से लेकर सुदूर पूर्व में मगध के पाटलिपुत्र तक की यात्राएँ कीं तथा यात्रा-विवरणों को पुस्तक 'इंडिका' में लिपिबद्ध किया। अपने मूल रूप में यह पुस्तक खो चुकी है। उसके कतिपय अंश जो अरियन तथा डायोडोरस जैसे प्राचीन यूनानी इतिहासकारों द्वारा संग्रहित किये गये थे, वे ही उपलब्ध हैं। आधुनिक समय में मैक्रिंडल ने उन्हें एक जगह संकलित कर उपलब्ध कराया है। मेगास्थनीज का विवरण मौर्यकालीन भारत संबंधी जानकारियों के लिहाज से एक बेहद महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है। पर उनकी इस पुस्तक में कई खामियाँ हैं तथा बेसिर पैर की बातें कही गई हैं, मसलन, भारत में लोमड़ी जितनी बड़ी चीटियाँ होती हैं जो बिलों में घुस कर सोना निकालती हैं, यहाँ भीमकाय बिच्छू पाये जाते हैं, यहाँ के लोग दैत्य जैसे नौ फुट के होते हैं आदि-आदि। ऐसी ढेरों कपोल कल्पनाओं का मतलब तब समझ में आता है जब हम इतिहास के बहुत प्रारंभ से ही दुनियाँ द्वारा भारत को एक आश्चर्य मिश्रित भाव से निहारता पाते हैं।

चूंकि मौर्यकालीन भारत में पाटलिपुत्र का ऐश्वर्य पूरी दुनियाँ को आकृष्ट कर रहा था इसलिए मिस्र के ग्रीक शासक तोल्मी फिलाडेल्फस (लगभग 258-247 ई0 पू0) ने डायोनिसियस नामक अपने एक दूत को मौर्य राजा बिन्दुसार के समय में (कुछ लोग उसे अशोक के काल में आया मानते हैं क्योंकि अशोक की शिलालेख, संख्या-XIII में तोल्मी का जिक्र आया है) पाटलिपुत्र भेजा था।

मौर्य काल के बाद कुछ सदियों तक भारत आये यात्रियों के नाम विस्मृति की गर्भ में खो चुके हैं। एक अंतराल के बाद पाँचवीं शती में पहला प्रसिद्ध नाम हमें चीनी बौद्ध यात्री फा-हियान का मिलता है जो 401 ई0 में गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में भारत आये थे। वे दरअसल 'विनय पिटक' के असली पाठ की खोज में पश्चिमी चीन से अपनी यात्रा आरंभ कर गोबी मरुस्थल आदि को पार करते हुए खोतान पहुँचे थे। यहाँ से पामीर की असंख्य कठिनाइयों को झेलते हुए स्वात होकर तक्षशिला व पुरुषपुर (पेशावर) पहुँचे। उन्होंने पूरे उत्तर भारत का भ्रमण किया था एवं पाटलिपुत्र में संस्कृत भाषा व बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए तीन साल तथा ताम्रलिप्ति (तामलुक, प0 बंगाल) में दो साल गुजारे। 410 ई0 में ताम्रलिप्ति बंदरगाह से समुद्र के रास्ते श्रीलंका व जावा होते हुए वे चीन की ओर प्रस्थान कर गये। 414 ई0 में वे वापिस चीन पहुँचे। फा-हियान ने अपने वृत्तांत

ह्वेन त्सांग : एक रेखाचित्र

[1] सिकंदर के इतिहासकार अरियन द्वारा संकलित पुस्तक 'द वायजेज ऑफ नेरकॉस फ्राम द इंडस टू द यूफ्रेटस' में संकलित।

(फो-कोउ-की) में उत्तर भारत के कई शहरों व वहाँ की शासन-व्यवस्था तथा जीवन-पद्धति का विस्तार से उल्लेख किया है। उन्होंने बौद्ध तीर्थ स्थलों, यथा-बोधगया, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर आदि का भी विशद वर्णन किया था।

फा-हियान के लौटने के लगभग 200 सालों बाद 630 ई0 में हर्षवर्धन के शासन काल में असंख्य कठिनाइयों को झेलते लगभग 10,000 कि0 मी0 की यात्रा कर चीन से एक बेहद महत्वपूर्ण यात्री, बौद्ध भिक्षु ह्वेन-त्सांग भारत आये। वैसे इससे पहले सुंग युन नामक एक चीनी यात्री 518 ई0 में भारत आ चुके थे। एक अन्य ग्रीक यात्री कॉस्मस इंडिकोप्लेउसतस (जो पहले व्यापारी थे, बाद में इसाई भिक्षु बने) भी उससे पहले (535-547 ई0 के बीच) भारत व श्रीलंका की यात्रा कर चुके थे उन्होंने अपने अनुभवों को 'टोपोग्राफिया क्रिश्चियाना' में दर्ज किया था। यह वृत्तांत तद्‌युगीन भारत-श्रीलंका संबंधों के बारे में काफी अच्छी सूचना देता है। सातवीं शती के दूसरे दशक में तिब्बती अध्येता थोन्मी संभोट भी भारत आये थे जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। ह्वेन-त्सांग लगभग 13 वर्षों तक भारत में रहे जिसमें से लगभग आठ साल उन्होंने उत्तर भारत के प्रतापी शासक हर्षवर्धन के राज्य में बिताये थे। हर्षवर्धन के राज्य के अलावा उन्होंने भारत के लगभग तमाम प्रमुख स्थलों का भ्रमण किया था। अपने वृत्तांत को उन्होंने पुस्तक (ट्रवेल्स ऑर रिकार्ड्स ऑफ वेस्टर्न लैंड्स) के बारह 'चुआन' (खंडों) में श्रमपूर्वक, सुव्यवस्थित तरीके से दर्ज किया। सातवीं शती के प्रथमार्ध के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सूचनाओं की प्राप्ति के लिए इनका वृत्तांत बेहद महत्वपूर्ण स्रोत है। ह्वेन-त्सांग ने कई साल नालंदा विश्वविद्यालय में विद्याध्ययन करते हुए गुजारे थे इसलिए उन्होंने नालंदा के अकादमिक माहौल का बहुत ही रोचक वर्णन किया है। फा-हियान जो 401 ई0 में आये थे, के वृत्तांतों में नालंदा का जिक्र तक नहीं आया है। ह्वेन-त्सांग भारत में चूँकि हर्षवर्धन के राज अतिथि की तरह रहे थे इसलिए वे बहुत आसानी के साथ इस देश का व्यापक भ्रमण कर पाये। इतना ही नहीं, 545 ई0 में जब उनके वापिस लौटने (जिसे लेकर हर्षवर्धन कतई इच्छुक नहीं थे) का समय आया तो उदार राज-सहयोग के कारण, कहा जाता है कि वे बीस घोड़ों के एक कारवां के साथ वापिस लौटे थे। उन घोड़ों पर बौद्ध प्रतीक चिह्न मूर्तियों आदि के अलावा पांडुलिपियों के 657 खंड भी लदे हुए थे। चीन लौट कर ह्वेन त्सांग ने अपनी सारी जिन्दगी उन ग्रंथों के चीनी अनुवाद को समर्पित कर दी थी।

ह्वेन-त्सांग के लौट कर चीन पहुँचने के बाद इत्सिंग (675 ई0) तथा हुई चाओ (727 ई0) जैसे कई उत्साही बौद्ध यात्री यहाँ आये। ह्वेन-त्सांग जहाँ रेगिस्तान व पर्वतों को पार करते हुए स्थल मार्ग से भारत आये थे वहीं इत्सिंग समुद्री मार्ग से सुमात्रा होते हुए भारत पहुँचे। इत्सिंग ने नालंदा विश्वविद्यालय में विद्याध्ययन करते हुए लगभग दस साल गुजारे थे। 691 ई0 में उन्होंने अपनी पुस्तक 'ए रिकार्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रिलीजन एज प्रैक्टिस्ड इन इंडिया एंड द मलय आर्कपेलागो'[2] लिखी। यह पुस्तक भारत के राजनीतिक इतिहास पर तो अधिक प्रकाश नहीं डालती पर बौद्ध धर्म व संस्कृत-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से बहुत से बहुत ही महत्वपूर्ण है।

इन चीनी यात्रियों के अलावा 8वीं, 9वीं तथा 10वीं शती में हमें तिब्बत (सालनांग, 8 वीं शती तथा नामनांग, 8वीं-9वीं शती), अरब (सुलेमान, 851 ई0; अल् बिलादुरी, 870 ई0; अल् मसूदी, 951 ई0) तथा ईरान (अबु इशाक इब्राहिम बिन इस्ताखरी, इब्न हाउकल, दोनों 10वीं शती) से आने वाले कुछ महत्वपूर्ण यात्री दीखते हैं। तिब्बती यात्रियों के आगमन का उद्देश्य जहाँ अपनी धर्म-पिपासा शांत करना था, वहीं अरब व ईरानी यात्रियों में से कुछ जहाँ ज्ञान-भंडार के रत्न चुनने आये थे वहीं कुछ व्यापारी बन कर भी आये । अरब यात्री अल मसूदी ने प्रतिहार राजा महिपाल प्रथम के शासन काल में भारत की यात्रा की थी तथा उन्होंने अपने वृत्तांत (मुरुजुल ज़हाब) में राजा महिपाल के घोड़े व ऊँटों की चर्चा की है।

ग्यारहवीं तथा बारहवीं शती में तिब्बती तथा अरब यात्रियों की यही स्थिति बनी रही। बौद्ध ज्ञान प्राप्ति की उत्कंठा में उत्तर से 11 वीं शती में कई तिब्बती भिक्षु व अध्येता (रिंछेन सांगपो, नाग चो, मार पा आदि) भारत आये। इस समय तक तिब्बत में बौद्ध धर्म पूरी तरह स्थापित हो चुका था तथा भारत के नालंदा, विक्रमशिला जैसे

[2] यह पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का शीर्षक है।

विश्वविद्यालयों में तिब्बती अध्येताओं का आवागमन बढ़ गया था तथा भारत-तिब्बत सांस्कृतिक संबंध इतने प्रगाढ़ हो चुके थे कि भारतीय बौद्ध भिक्षुओं ने भी वहाँ जाना आरंभ कर दिया था। आठवीं शती में जहाँ प्रसिद्ध बौद्ध धर्माचार्य शांतरक्षित व पद्मसंभव वहाँ पहुँचे वहीं 11वीं शती के मध्य में आचार्य अतिश वहाँ गये। इस बीच तिब्बत में बौद्ध धर्म के हीनयान, महायान व तंत्रयान के सम्मिलित प्रभाव से लामावाद का एक तंत्र विकसित हो चुका था। भारत के समस्त उत्तरी सीमांत पर अरुणाचल प्रदेश से लेकर कश्मीर तक बौद्ध धर्म के इस विशिष्ट लामावादी स्वरूप की व्याप्ति को देखा जा सकता है। 11 वीं शती में ही पश्चिम से अरब के एक बेहद महत्वपूर्ण यात्री अलबरूनी भारत आये थे। वे सुल्तान मुहम्मद की सेना के साथ आये थे। उनका नाम अबू-रिहान मुहम्मद था पर लोग उन्हें उनकी विद्वत्ता के कारण अलबरुनी (यानी उस्ताद) कह कर पुकारते थे। अलबरुनी कई वर्षों तक पंजाब में रहे।

उन्होंने भारत में रह कर संस्कृत सीखी तथा हिन्दू दर्शन व ज्ञान के अन्य विषय क्षेत्रों का गहन अध्ययन किया। अपने अध्ययन व अवलोकनों को उन्होंने अपनी पुस्तक तहकीक-ए-हिंद में दर्ज किया। यह पुस्तक 11वीं शती के भारतीय जीवन, रीति-रिवाज, संस्कृति, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान आदि का विदेशी नजरों द्वारा बारीकी के साथ दर्ज किया गया एक बेहद महत्वपूर्ण स्रोत ग्रंथ है।

मार्को पोलो की पुस्तक का शीर्षक पृष्ठ

तेरहवीं शती में चीन (चाउ-जू-कुआ), ईरान (शीराज के कवि शेख सादी), बुखारा (मुहम्मद अंजी), इटली (मार्कोपोलो) आदि देश व जगहों से यात्री भारत आये। इनमें से वेनिस के यात्री मार्को पोलो भारतीय इतिहास में काफी प्रसिद्ध हैं। वे 1288 ई0 तथा 1293 ई0 में भारत आये थे। उन्होंने पांड्य राज्य के व्यवस्थित प्रशासन व भौतिक स्थिति का विशद वर्णन किया है।

चौहदवीं शती में मोरक्को के यात्री इब्न बतूता को इतिहास में काफी प्रसिद्धि मिली हुई है। वैसे इनके अलावा इस शती में चीन (वांग ता युआन, 1330-49 ई0), ईरान (कवि हाफिज, शीराज) तथा इटली (आडोरिको द पोर्डेनन, 1321 ई0) के यात्री भी भारत आये। इब्न बतूता सुल्तान मुहम्मद तुगलक के राज्यकाल (1325-51 ई0) में 1333 ई0 में आये थे। उनकी विद्वता से प्रभावित होकर विद्याप्रेमी मुहम्मद तुगलक ने उन्हें दिल्ली का मुख्य काज़ी नियुक्त किया था। 1342 ई0 में जब बादशाह द्वारा वे राजदूत बना कर चीन भेजे गये तब तक वे उसी पद पर बने रहे। उन्होंने अपने अनुभवों को पूरी निष्ठा के साथ अपनी पुस्तक[3] में दर्ज किया था। उनके वर्णन में वैसे तो कुछेक जगहों पर अतिशयोक्तियाँ हैं पर कुल मिला कर वर्णन सटीकता व सत्यता के निकट है।

पंद्रहवीं शती में इतिहास में तीन प्रसिद्ध यात्री निकालो द कोंती (इटली), अफनासी निकितिन (रूस) तथा वास्को डि गामा (पुर्तगाल) भारत आये थे। पर इसके अलावा चीन (चेंग हो, फे सिन, मा हुआन) ईरान (खुरासन के कवि शेख अजूरी, 1432 ई0), समरकंद (कमालुद्दीन अब्दुर रज्जाक, 1442 ई0), पुर्तगाल (पेड्रो द कोविल्हा, 1488 ई0), पोलैंड (गास्पर द गामा, 1498 ई0) आदि दशों के यात्री भी यहाँ आये। इटली के निकोलो द कोंती 1420 ई0 में राजा देवराय द्वितीय के शासन-काल में विजयनगर आये थे। उन्होंने अपने वृत्तांत में विजयनगर के ऐश्वर्य व रीति-रिवाजों का बहुत ही विशद वर्णन किया है। रूसी यात्री अफनासी निकितिन के वृत्तांत[4] से बहमनी राज्य के आम आदमी व वहाँ मौजूद सामाजिक विषमताओं की अच्छी जानकारी मिलती है। निकितिन ने 1470-74 ई0 के बीच बहमनी राज्य की यात्रा की थी। इसी

वास्को डिगामा : 15वीं शती

[3] नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा इसका हिंदी अनुवाद 'इब्नबूतता की भारत यात्रा' नाम से प्रकाशित किया गया है।

[4] अफनासी निकितिंस वॉयज बियांड द थ्री सीज, 1466-72

प्रकार वास्को डि गामा 15वीं शती में पुर्तगाल से भारत आने वाले पहले यात्री थे। वे 20 मई 1498 ई0 को कालीकट बंदरगाह पर उतरे। वे चार जहाजों के एक बेड़े का नेतृत्व करते हुए भारत आये थे। स्थानीय हिन्दू शासक, जमोरिन ने उनका अच्छा स्वागत किया था। वास्को डि गामा ने भारत और योरोप के बीच समुद्र मार्ग से व्यापारिक यात्रा-पथ को प्रशस्त किया। वास्को डि गामा से पहले भारत के पश्चिमी समुद्री तट पर अरब व्यापारियों का वर्चस्व हुआ करता था। वास्को डि गामा अपनी पहली यात्रा के दौरान योरोपीय ताकतों की ओर से उसमें सेंध लगाने में सफल रहे थे। पर उन्हें अपनी दूसरी यात्रा (1502 ई0) में अरब व्यापारियों के खिलाफ स्थानीय राजाओं का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। पर तब तक व्यापार के दरवाजे खुल चुके थे और 1508 ई0 तक आते-आते पुर्तगालियों ने अपने उन्नत सैन्यबल के सहारे अरब सागर के समुद्री व्यापार मार्ग पर आधिपत्य जमा लिया था।

सोलहवीं शती में भारत आये यात्रियों के इतिहास पर उस काल में हुई दो बड़ी घटनाओं- पश्चिमी तट पर पुर्तगाली ताकतों द्वारा पैर जमाने तथा उत्तरी भारत में मुगल सत्ता के स्थापित होने का प्रभाव पड़ता दीखता है। यात्रियों की सूची में सबसे ज्यादा नाम हमें पुर्तगालियों के नजर आते हैं। इस समय अलग-अलग कालों में निम्नलिखित उल्लेखनीय पुर्तगाली यात्री भारत आये:- पेड्रो अल्वारेस कैब्राल (1500 ई0), अफोंसो द अलबकर्क (1503 ई0), डोमिंगोज पायज (1520 ई0), फर्नाओ लोपेज द कैस्टानहेडा (1528 ई0), फ्रांसिस जेवियर (मिशनरी, 1541-42 ई0), कैमोंस (कवि, 1553 ई0), डियोगो डो काउतो (लगभग 1559 ई0) गोवा के रिकार्ड कीपर, एडोआर्डो बारबोसा (1506 ई0), अंतोनियो कैब्राल (1573 ई0) आदि। इसी प्रकार उत्तर भारत में मुगल सत्ता के स्थापित होने के साथ ईरानी यात्रियों का भी एक प्रवाह भारत आता दीखता है। उनमें प्रमुख रूप से ख्वाजा अब्दुस्समद शीराजी (चित्रकार), मीर सैय्यद अली तब्रिजी (चित्रकार), शाहपुर खोरासनी (चित्रकार), उरफी (कवि), काजविन के आसफ खान उर्फ मिर्जा जफर बेग, (कवि, 1577 ई0), अस्त्राबाद के मुहम्मद कासिम फरिश्ता (इतिहासकार 1560 ई0) आदि का नाम लिया जा सकता है। ये अध्येता, इतिहासकार, चित्रकार कवि आदि प्रारंभिक मुगल शासकों के साथ भारत आये थे।

डोमिंगोज पायज विजयनगर के प्रतापी राजा कृष्णदेव राय (1509-1529 ई0) के काल में 1522 ई0 में विजयनगर आये थे। उन्होंने राय कृष्णदेव के आचार-व्यवहार के साथ-साथ उनके राज्य की जनता की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का भी अच्छा चित्रण ('फारगॉटेन अंपायर', सीवेल) किया है। उन्होंने विजयनगर शहर के ऐश्वर्य की तुलना रोम से की थी तथा उसे दुनियॉ का 'सर्वाधिक भौतिक सुविधाओं से सम्पन्न शहर' बताया था। उन्होंने एक जगह अपने वृत्तांत में कृष्णदेव राय के महल के एक कक्ष को फर्श से लेकर छत तक हाथी दॉंत से सज्जित बताया है। इसी प्रकार उन्होंने राजदरबार में निभाये जाने वाली रस्मों का भी विशद वर्णन किया।

एक अन्य पुर्तगाली यात्री एडोआर्डो बारबोसा ने भी 1560 ई0 में विजयनगर की यात्रा की थी। पर विजयनगर पहुँचने से पहले उन्होंने बंगाल की यात्रा भी की थी। विजयनगर की आर्थिक समृद्धि एवं बंगाल में तैयार सामानों की उत्कृष्टता से वे बेहद प्रभावित हुए थे जिसका जिक्र उनके वृत्तांतों में आता है।

16वीं शती के पूर्वार्द्ध में जहॉं दक्षिणी भारत में विजयनगर के प्रतापी शासक कृष्णदेव राय की कीर्ति फैली हुई थी वहीं उसके उत्तरार्द्ध में उत्तर भारत का परिदृश्य अकबर की शासक कीर्ति से प्रकाशित हो रहा था। अकबर के संबंध गोवा के पुर्तगाली शासकों से थे। उसके आमंत्रण पर वहॉं के गवर्नर ने 1580 ई0 में विद्वान भिक्षु फादर अंतोनियो मांसरेट तथा फादर एक्वाविवा को अकबर के दरबार में फतेहपुर सीकरी भेजा। अकबर ने अपने दूसरे बेटे मुराद को पुर्तगाली भाषा सिखाने के लिए अंतोनियो मांसरेट को नियुक्त किया था। मांसरेट अकबर के दरबार में कई वर्षों तक रहे। उन्होंने लैटिन में अपने वृत्तांत को दर्ज किया था। उनका विवरण अकबर के शासन काल की परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाला एक बेहद महत्वपूर्ण दस्तावेज है। अकबर के दरबार में 1595 ई0 के एक अन्य पुर्तगाली जेसुइट मिशनरी, फादर इमैनुअल पिन्हेरो भी आये थे। उनके द्वारा अपने वतन को लिखे गये पत्र उस समय के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

सोलहवीं शती में ईरानी तथा पुर्तगाली यात्रियों के अलावा इटली, जर्मनी, फ्रांस, हालैंड, पोलैंड, इंग्लैंड आदि योरोपीय देशों के यात्री भी भारत आये थे। इसमें से हालैंड के जॉन ह्यूगेन लिंशोटन

(1583 ई0), इंग्लैंड के राल्फफिच तथा जॉन माइल्डेन हॉल के नाम अधिक प्रसिद्व) हैं। लिंशोटन ने गोवा और कोचिन के इलाकों में सात साल गुजारे थे। उसकी ताम्र प्लेटों पर उकेरी गई तस्वीरें बेहद महत्वपूर्ण हैं। राल्फ फिच ने 1583 ई0 में उत्तर भारत, बंगाल, बर्मा, मलक्का, सिलोन आदि की व्यापारिक यात्राएँ की थीं तथा 1591 ई0 में वे इंग्लैंड वापिस लौट गये थे। उन्होंने अपनी यात्रा की जो एक रिपोर्ट तैयार की थी, उसे ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में अपने व्यापार के प्रारंभिक दौर में दिशा-निर्देशक दस्तावेज बनाया था। इसी प्रकार इंग्लैंड के एक दूसरे प्रारंभिक व्यापारिक यात्री जॉन माइल्डेनहॉल द्वारा 1599 में भारत आकर पहले अकबर और उसके बाद उनके बेटे जहाँगीर से इस देश की धरती पर व्यापारिक रियायतें हासिल करने की असफल चेष्टाओं के अनुभवों को भी ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने दिशा-निर्देश के लिए सामने रखा था। इसी प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में पाँव जमाने की अपनी कोशिशों के आरंभिक दौर में सैमुअल परचा द्वारा लिखित 'पिलग्रिम्स' को भी काफी अहमियत दी थी। इस पुस्तक में भारत आये योरोपियनों के वृत्तांत व अनुभवों का संकलन था। ईस्ट इंडिया कंपनी भारत के मिजाज़ को समझने तथा डच आदि सक्रिय अन्य उपनिवेशवादी ताकतों के दाँव-पेंचों को बताने व पूर्व में आये योरोपियन यात्रियों में पनपे दुर्गुणों से वाकिफ कराने तथा उससे अपने कर्मचारियों को बचाने के लिए इस पुस्तक का अध्ययन अनिवार्य समझती थी। यही कारण है कि 1688 ई. में इस पुस्तक की ढेरों प्रतियाँ अधिकारियों/कर्मचारियों के पढ़ने के लिए भारत भेजी गई थीं।

यात्रियों के वृत्तांतों से भारत के संबंध में पनपी यह रुचि अंग्रेजी हुकूमत द्वारा यहाँ मजबूती से अपने कदम जमा लेने के बाद प्रकारांतर से इस देश की खनिज संपदा, भौगोलिक व भूगर्भीय विशिष्टताओं, वनस्पति व वन्य जीवन की समृद्धि, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, रीति-रिवाजों आदि के गहन अध्ययनों का कारण बनती चली गई।

आलेख के अगले भाग में सत्रहवीं से लेकर उन्नीसवीं शती के बीच भारत आये यात्रियों के वृत्तांतों पर संक्षिप्त चर्चा के साथ-साथ विलियम जोंस, जेम्स टॉड, एच.एच. विल्सन, फ्रांसिस बुकानन, अलेक्जेंडर कनिंघम, जेम्स फर्गुसन जैसे कई यात्री व अध्येताओं की भी चर्चा की जायेगी जिनके गंभीर अध्ययनों की वजह से न सिर्फ भारत लाभान्वित हुआ और यहाँ नवजागरण की चेतना को फैलने में मदद मिली बल्कि योरोप के ज्ञान-विज्ञान व दर्शन को भी एक नया आयाम मिला।

– मीमांसक
सी-203, प्रगति विहार हॉस्टल,
लोधी रोड़, नई दिल्ली-110003

डच यात्री जॉन ह्यूगेन (1583ई.) द्वारा ताम्र प्लेट पर उकेरी गई तस्वीर

– जोगिन्द्र सिंह कंवल

फीजी की हिन्दी कविता में भारतीय संस्कृति

फीजी सूरज का देश है।

दुनिया में सबसे पहले नये दिन की आँख यहीं खुलती है। सूरज अपनी सुनहरी किरणों से सबसे पहले इसी धरती के आँगन में सोना बिखेरता है।

अन्तर्राष्ट्रीय तिथि रेखा (इन्टरनेशनल डेट लाइन) इसी देश से गुजर कर समय को 'आज' और 'कल' में बाँटती है।

फीजी समुद्र का देश है।

यहां के छोटे–बड़े द्वीपों में चारों ओर हलकोरे मारता पानी सूरज को अपने रंग दिखाने के लिये सारा दिन उछलता–कूदता रहता है मगर जब इसके नीले पानी पर सन्ध्या के सूरज की सिंदूरी किरणें पड़ती हैं तो दूर–दूर फैले समुद्र में कितने ही इन्द्रधनुष चमकते दिखाई देते हैं।

मचलती, नाचती तरंगें अपने सिरों पर झाग के सफेद मुकुट पहने किनारों के साथ सारा दिन अठखेलियाँ करती रहती हैं या फिर भारी चट्टानों से टकरा कर चिट्टे मोती बिखेरती हुई वापस लौट जाती हैं। 14 अक्तूबर 1874 को फीजी की पहचान एक नए ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में बनी।

1875 में ब्रिटिश सरकार ने एक बहुत ही अनुभवी आदमी को यहां का राज्यपाल बनाकर भेजा जिसने आते ही फीजी की आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करना शुरू कर दिया। उसका नाम था सर आर्थर गोर्डन। उसने प्रशासन की बागडोर अपने मजबूत हाथों में ले ली और साथ ही काईवीती लोगों के सामाजिक ढाँचे और उनके रस्म–रिवाज तथा रहन–सहन के ढंग को बड़ी बारीकी से समझने लगा। उसने अनुभव किया कि फीजी की धरती बहुत उपजाऊ है। यह सोना उगल सकती है अगर इसमें खेती करने वाले मजदूर परिश्रमी और ईमानदार हों।

उसे इस बात की जानकारी थी कि भारतीय मजदूरों ने मारीशस (1834), ब्रिटिश ग्याना (1838), ट्रिनिदाद (1845) और सूरीनाम (1873) जैसे देशों में जाकर और वहां अपना खून–पसीना बहाकर उन्हें गुलजार बना दिया। इन देशों में अधिकांश लोग भारत के पश्चिमी बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के इलाकों से भेजे गये थे। लगभग इन सब लोगों की भाषा भोजपुरी थी।

सर आर्थर गोर्डन ने भारत के इन्हीं इलाकों से फीजी के खेतों और मिलों में काम करवाने के लिए मजदूरों को यहां लाना शुरू कर दिया।

लगभग दो महीनों का समुद्री सफर तय करके जो भारत से आया पहला जहाज फीजी के तट पर लगा उसका नाम ल्योनीदास

सूवा स्थित फीजी म्यूज़ियम के सौजन्य से

था। इसमें चार सौ तिरसठ शर्तबंद भारतीय मजदूर थे। यह 15 मई 1879 की बात है। उसके बाद जहाज आते रहे, जहाज जाते रहे।

1916 तक लगभग साठ हजार पुरुष और महिलाएँ फीजी में पहुंच चुकी थीं। इन्हें गोरे साहिब 'कुली' कहकर बुलाया करते थे। भारत छोड़ने से पहले इन मजदूरों को एक शर्तनामे पर हस्ताक्षर करना या अँगूठा लगाना पड़ता था जिसे अंग्रेजी में 'ऐग्रीमेंट' कहा जाता था। बहुत से भारतीय मजदूर पढ़े लिखे नहीं थे। उच्चारण की कठिनाई के कारण वे इस शब्द को 'गिरमिट' कहने लगे।

20 मार्च 1916 में भारत की इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के एक प्रस्ताव की बिना पर गिरमिट प्रणाली का अंत हो गया।

भारतीय मजदूरों को कुली प्रथा से सख्त नफरत थी। इसके समाप्त होने पर उन्होंने कई स्थानों पर जश्न मनाये और 'कुलियों' तथा 'कोलम्बरों' के पुतले बनाकर जलाये।

गिरमिट काल के दिन भारतीय मजदूरों के लिए कसक और पीड़ा के दिन थे। हड्डियां तोड़ देने वाला काम और बहुत ही कम वेतन। मालिकों का इनके साथ अमानवीय सलूक। कोलम्बर की हर पल धौंस और चुभती नजरें। सरदार की सवालिया मुद्राएँ, गाली-गलौज और मार-पीट। बुझी-सी आशायें। थके-थके से चेहरे। इतिहास की चक्की में पिसने वाले भारतीयों को लगता था कि वे एक अंधी गली से गुजर रहे हैं जिसके पार उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं देता। हर समय अनिश्चितता की तलवार उनके सिर पर लटकती रहती। एक इतिहासकार हिऊज टिंकर ने इसे अर्ध-गुलामी का काल कहा है।

ये लोग जो देश का आर्थिक अँधेरा धीरे-धीरे समाप्त करने में जुटे हुए थे वे खुद एक नये प्रकार के अँधेरे की घाटी में उतरते जा रहे थे।

किर किर करती गरीबी, अनपढ़ता, अंधकार में डूबा अज्ञात भविष्य। इनके बच्चों के लिए कोई पाठशाला नहीं। ऐसी परिस्थितियों में साहित्य-रचना का प्रश्न ही नहीं उठता था। न उन्हें बारिश की हँसी और न ही पेड़ों पर बैठे पक्षियों के गीत सुनाई देते थे। न बदलते मौसमों के मोहक रंग और न गोरे साहिबों के घरों के बाहर खिले फूलों की मुस्कराहट दिखाई देती थी। जहाँ दो वक्त की रोटी की समस्या खड़ी रहती हो वहां किसी प्रकार की सुन्दरता भी मन को नहीं भाती।

संत कबीर की बाणी में एक जगह इस तरह हमें पढ़ने को मिलता है- ''भूखे भगति न कीजै, यह माला अपनी लीजै।'' कबीर साहिब ईश्वर को ताना देते हैं या शायद अपने गुरु रामानन्द को कहते हैं कि हमसे भूखे पेट भक्ति नहीं होती, संभालो अपनी माला। भूखे पेट नाम नहीं जपा जाता। मेरे मतानुसार साहित्य-रचना तो माला फेरने और रटा-रटाया नाम जपने से कहीं ज्यादा कठिन है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू को जब ब्रिटिश सरकार जेल भेज देती थी तो वे अपनी बेटी इंदिरा को वहां से पत्र लिखा करते थे। एक पत्र में एक बार उन्होंने लिखा था- 'कविता और दूसरी तरह का उत्कृष्ट लेखन अमीर वर्ग के लोगों की अजारादारी है। एक गरीब आदमी की झोंपड़ी में कविता और संस्कृति की बातों के लिए कोई स्थान नहीं है और न ही खाली पेट के लिए वे कोई अर्थ रखती हैं।'

संत कबीर और पंडित नेहरू ने जो कुछ लिखा था वह एक कड़वा सच है लेकिन इस कड़वी सच्चाई का एक दूसरा पक्ष भी है। कई बार ऐसा भी होता है कि खाली पेट की तड़प पिघल कर शब्दों में बदल जाती है।

जैसे शांत समुद्र में तूफानी हवायें बड़ी-बड़ी लहरें पैदा कर देती हैं इसी तरह दबे-घुटे लोगों को जब मुसीबतों की आँधी झँझोड़ती है तो उनके मनों में ज्वार-भाटे उठने लगते हैं जो कविता या गीत बन जाते हैं।

फीजी में आये गिरमिटिया पुरुषों और स्त्रियों को डाँट-डपट तो पड़ती ही रहती थी। कई दफा तो कोलम्बर (गोरे ओवरसिअर का उपनाम) और सरदार उनकी पिटाई भी कर देते थे। एक तो उन्हें अपने परिवारों से बिछुड़ने का गम, दूसरी ओर, खेतों में कमर-तोड़ काम। इसके ऊपर साहिबों की मार। एक महिला जिसका नाम झिनकी था, सिगांतोका जिले के एक गाँव में रहती थी। एक दिन सरदारों और साहिबों की डाँट-डपट खाकर घर में अकेली बैठी-बैठी फूट पड़ी-

विपद् झिनकी के सुने को दईया
साहिबा है बड़ा पिटइया
है सरदार अपना चुगल खोर
वैरन है राम दईया

भारत में कुछ ऐसे लोग थे जिनका काम था भोले-भाले लोगों को बाहरी देशों में भेजना। उन्हें उस हर व्यक्ति के पीछे कमीशन मिलता था जिसे वे अपने धोखे के जाल में फँसा कर समुद्री जहाज में बिठा देते । ये सरकारी एजेंट थे जिन्हें आरकाटी के नाम से भी जाना जाता था। कई नव-विवाहित नारियों के साथ भी फरेब करके उन्हें फीजी भेजने में वे सफल हो जाते थे। 'फीजी तो कलकत्ता के पास है', 'फीजी तो स्वर्ग है।' 'थोड़ा काम, पैसा ज्यादा'। 'खाने के लिए मीठे फल और दिन रात स्वादिष्ट भोजन।' इस तरह उन्हें वे नये सपनों का गांजा चखा कर कोलकाता जाने वाली रेल गाड़ी में बिठा देते। जब फीजी पहुंचकर उन्हें खेतों में काम करना पड़ता और चमचमाती धूप में गन्ने की तेज पत्तियां उनके हाथों, माथे और गालों को लहू-लुहान कर देती, तो आरकाटियों को गाली देना शुरू कर देतीं। जब रात को कोठरी के काले फर्श पर सोना पड़ता तो भारत में छूटा अपना पति याद आने लगता, जिसके साथ वे लड़-झगड़कर घर से भाग आई थीं और किसी आरकाटी की बातों में आकर फीजी पहुंच गई थीं। एक रात जब एक महिला अपनी कोठरी में लेट रही थी उसकी दबी-घुटी इच्छायें मन की दरारों से बाहर निकलकर इस तरह की पंक्तियों में समा गई :

भाग आई मैं देस से
पीछे छोड़ सांवरिया
मर जा भरती वाले
मेरी सूनी कर दी सेजरिया

या फिर किसी दिन शरीर में पीड़ा के कारण उसके होंठों पर इस तरह के शब्द तड़पने लगते :

दिन के कुदाड़ी, रात नींद नहीं आवे
सगरी देहिया आज मोरी पीरावे
अरे आरकाटी, तेरा नास हो जावे

अक्सर कहा जाता है कि इन्सान को दुखों में घबराना नहीं चाहिए। हर कष्ट को मुस्कराते हुए झेलना चाहिये लेकिन हर दुख की सीमा होती है। उबलता मन कब तक भाप को अन्दर बंद कर रखेगा। एक दिन हाँडी का ढक्कन नीचे आ ही गिरेगा। खेतों में काम करने वाली महिलाओं को एक गोरा कोलम्बर (ओवरसिअर) सताया करता था। उन्हें मारता, कभी पीटता और कभी-कभी जो कोई सुन्दर होती, अकेली देखकर उसकी बाँह पकड़ लेता और गन्ने के खेत में ले जाने के लिए उसे घसीटता।

एक दिन कुछ महिलाओं ने एक सभा की। फैसला हुआ कि जब वह कोलम्बर आये और उनपर धौंस जमानी शुरू करे तो उस पर वे सब टूट पड़ें। ऐसा ही हुआ। जब कोलम्बर आया तो महिलाओं ने उसे खूब पीटा। जब वह बेसुध हो गया तो उसे खाड़ी में धकेल दिया। इस घटना के बाद जब वे कभी-कहीं शाम को 'बिदेसिया' गाती तो यह बोल भी साथ जोड़ लेतीं –

काम में टूट मरें, हो रामा
फिर भी झिड़की लगाये रे बिदेसिया
खून पसीने से सींचे हम बगिया
बैठा बैठा हुकम चलाये रे बिदेसिया

जब कभी उनके दुख-दर्द की कहानी सुनने वाला आस-पास कोई न होता, तो गन्ने के खेतों में कुदाड़ी चलाती कुछ इस प्रकार गुनगुनाने लगतीं :

छुड़ी कुदाड़ी के संग
अब बीते दिन रतियाँ
गन्ने की हरी हरी पतियाँ
जाने हमरी सब बतियाँ

भारतीय मजदूर कई स्थानों पर बंजर तथा पथरीली जमीन को उपजाऊ बनाने में जुटे रहते। दिन भर के कड़े काम के बाद वे रात को 'लाइनों' (छोटी-छोटी बस्तियाँ) में आ जाते। हर लाइन में उनके रहने के लिए छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं। आमतौर पर एक कोठरी की लंबाई चार गज और चौड़ाई अढ़ाई या तीन गज से ज्यादा नहीं होती थी। हर एक कोठरी में तीन आदमी रखे जाते थे। एक दिन किसी कवि-दिल मजदूर को यह गीत याद आ गया और रात को बिस्कुटों का खाली डिब्बा उठा लाया। उसे बजा-बजाकर गाने लगा :

सब सुखखान कम्पनी की कोठरियाँ
छः फुट चौड़ी आठ फुट है लम्बी
उसी में धरी है कमाने की कुदरिया
उसी में सिल और उसी में चूल्हा
उसी में धरी है जलाने की लकरिया
उसी में महल और उसी में दुमहला
उसी में बनी है सोने की अटरिया

शायद उसके किसी मित्र को इस गीत की तुकबंदी ठीक न लगी। उसने कुछ इस तरह सोचा और दूसरी रात वह अपनी रचना गाने लगा :

सब दुखखान कम्पनी की कोठरिया
यही में खाना, यही में सोना
यही में बहत पनरिया
तास कड़ा सरदरबा देवे
सिर पै हनत कुदरिया
मूड़ फटत है देह दुखत है
टूटी जात कमरिया।

काईवीती भाईयों में तो नगोना (यंगोना) पीना-पिलाना एक पुरानी रस्म है। केवल रस्म ही नहीं बल्कि उनकी संस्कृति का एक महत्वपूर्ण भाग है। उनके जीवन में इसकी खास विशेषता है। बड़े से बड़ा मेहमान आये तो उसका स्वागत और सत्कार करने के लिए नगोना के प्याले बड़े नाज-नखरे से उसे पेश किये जाते हैं। धीरे-धीरे हिंदुस्तानी लोगों को भी इसे पीने-पिलाने का चस्का पड़ गया। गाँव में होनेवाली बहुत सी बैठकें इसके बिना आज भी अधूरी समझी जाती हैं। गिरमिट के दिनों में भी अपने हिंदुस्तानी भाई आधी रात तक इसे पीते और गप्पे हाँकते रहते थे। घर में उनकी स्त्रियाँ इंतजार करती रहती। एक बार एक परिवार में झगड़ा छिड़ गया। आदमी कहने लगा :

नगोना हमसे छूटे न प्यारी
देस छूटा जात छूटी
छूटे बाप महतारी
नगोना हम से छूटे न प्यारी
इस टापू का भांग नगोना
हम पी पी रात गुजारी

फिर किसी बुजुर्ग ने नगोना पीने वालों को इसे न पीने का सीधा उपदेश तो न दिया लेकिन अपने काव्य में ही कटाक्ष भर कर उन्हें सुनाने लगा :

पाए गिरमिट से छुटकारा
जब जब हिंदुस्तानी
पिये नगोना घोर छान के
बोले मीठी बानी
कहे कलंदर सुन भाई बन्दर
बिगड़ा मेरा मिजाज
घोर छान के पियो नगोना
आवे तन में खाज
उड़ गई खाल सभी काया की
जैसे सूखी कौड़ी
सारे तन पै चकड़े पड़ गये
नम्बर दो के कोढ़ी

मजदूरों को सबेरे चार बजे उठना पड़ता था ताकि वे समय पर खेतों में पहुंच जाएँ। रात को 'लाइनों' में देर तक बातें करते तो सरदार वहां आ धमकता। उन्हें जल्दी सोने पर मजबूर करता। उन्हें यह बात बड़ी अजीब-सी लगती क्योंकि किसी व्यक्ति को डाँट-डपट कर जगाया तो जा सकता है लेकिन आँखें बंद करवा कर सोने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। किसी उर्दू पढ़े-लिखे ने अपने मन की भड़ास इस शेर से निकाली :

सोने वालों को तो
बे-वक्त उठा के छोड़ा
चोट चाबुक से
बिना नींद सुला के छोड़ा।

वही गोरा कोलम्बर एक दिन फिर उसी आदमी को बुरा भला कहने लगा। मन ही मन में कुढ़ता हुआ वह मजदूर अपने आक्रोश को इस प्रकार व्यक्त करने लगा :

रंग गोरा है मगर
दिल तो तेरा काला है
भगवान ने कैसे साँचे में
तुझे ढाला है

भारतीय मजदूर गिरमिट काल में बेरहम संघर्षों के बीच से गुजर रहे थे। मन के भीतर कई तरह के उबाल उठते लेकिन वे अपने दिल की बात कोलम्बरों और सरदारों की उपस्थिति में एक दूसरे को कहने से हिचकिचाते। जब गन्ना कटाई का मौसम खत्म हो जाता था तो उन्हें अन्य प्रकार के काम सौंप दिये जाते थे। जैसे किसी खेत के किनारे पच्चीस गज लंबी मोढ़ी खोदना या फिर पच्चास गज लंबी जमीन पर से जंगली घास काटना। इसे वे तास (अंग्रेजी में टास्क) कहते थे जिसे निर्धारित समय के अंदर हर मजदूर को पूरा करना पड़ता था। अगर वे समय पर दिया गया काम नहीं कर पाते थे तो उन्हें सजा मिलती थी। कोड़े और घूँसे या फिर उनके वेतन से कुछ रकम काट ली जाती थी। घास काटते या मोढ़ी खोदते यदि कोई सरदार या कोलम्बर दिखाई देता तो वे बात का रुख बदलने की खातिर एक दूसरे से यूँ मजाक करने लगते :

पैंनों ले ले हैंसिया
और पूरा काट पचास जी
गैल में छाईले झौंपड़ा, प्यारे
रब पुजाऊ, तेरी आस जी

इस तरह की कितने ही गीत शैली में लिखी पंक्तियों का रंग स्थानीय है लेकिन यह कहना कठिन है कि इनका जनम फीजी की जलवायु में हुआ है। यह भी तो हो सकता है कि इन गीतों की आधी-अधूरी पंक्तियां पहले से ही उनके मन के किसी कोने में दबी पड़ीं हों तथा फीजी प्रवास में जब दुखों की आँधी ने उनके हृदयों को हिलाया तो इस तरह की काव्य पंक्तियाँ उनके होंठों पर थिरकने लगी हों।

आरकाटिओं की मक्कारी और दगाबाजी के बावजूद गिरमिट काल में महिलाएँ पुरुषों के मिलान में यहां कम आईं। इस कमी के कारण कई प्रकार की बड़ी गंभीर सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती थीं।

जब कोई सुन्दर महिला किसी बस्ती में रहने के लिये आती तो कई 'दिल-फेंक' मर्दों की लालची नजरें उस पर जा पड़तीं। कभी-कभार अगर किसी समझदार स्त्री को कोई अच्छा हृष्ट-पुष्ट पुरुष जीवन को सहारा देने के योग्य मिल जाता तो वह उसके साथ विवाह कर लेती। जब दूसरी महिलाएँ उसके दूल्हे के संबंध में कोई मजाक करतीं और उसके माथे की बिंदिया देख कर कई ऊट-पटाँग प्रश्न पूछतीं तो भोजपुरी के एक लोकप्रिय गीत की दो पंक्तियाँ सुना देतीं :

जलवा चमके उजरी मछरिया
रण चमके तरवार
सभवा में चमके
मोरे सइयाँ की पगरिया
सेजिया पे बिंदिया हमार

कुछ नौजवान आशिकाना तबीयत के थे जिन्होंने दो-चार प्रेम गीत याद कर रखे थे। जब कोई अकेली खूबसूरत महिला उन्हें आती जाती दिखाई देती तो उसे छेड़ने या चिढ़ाने की खातिर याद किया हुआ कोई प्रेम दोहा या फिर उर्दू का कोई शेर बोलने लगते। बा जिले में एक औरत अपने आदमी से रात को झगड़ा करने लगी जब उसके पास किसी ने चुगली की कि उसके पतिदेव ने किसी पराई स्त्री को ये शब्द कहकर छेड़ने की कोशिश की है :

राजा हूँ मैं कुंभ का
इन्दर है मेरा नाम
बिन परियों की दीद के
मुझे नहीं आराम

अधिक संख्या में भारतीय मजदूर धार्मिक प्रवृत्तियों के थे। भारत से आते समय कोई रामायण की प्रति अपनी गठड़ी में बाँध कर ले आया और कोई गीता को कम्बल में लपेटकर ले आया था। कबीर, सूरदास, मीरा और तुलसीदास के भजन इनमें बड़े प्रिय थे और आज भी हैं। वे रविवार को लाइनों में मंडलियाँ बनाकर बैठ जाते और जीवन के कष्टों और चिंताओं को ऊँची-ऊँची आवाज में इस तरह के भजन गाकर भूलने की कोशिश करते :

कुंजन बन नाचो गिरधारी
एक ओर खेलत कृष्ण मुरारी
एक ओर राधा प्यारी
एक ओर कान्हा बंशी बजावत
एक ओर राधा तारी
एक ओर मोहन बंशी बजावत
राधा घुंघुरन की झनकारी

होली जैसे त्यौहार सीमित साधनों और असुविधाओं के कारण बहुत धूम-धड़क्के के साथ नहीं मनाये जाते थे। फिर भी दिन-रात काम करने के बावजूद होली के दिन गाने-बजाने की बैठकों का आयोजन जरूर कर लेते और अपनी बस्ती के वातावरण को इस प्रकार के गीत गाकर उल्लासपूर्ण बना देते:

ऐसा होरी खेले खिलाड़ी
जनम छुटि जात संसारी
अनहद का मति ढूंढन लागे
निरखत तत्व निहारी

या फिर होली खेलते किसी नवयुवक या युवती में तकरार हो जाता तो युवती राधा-कृष्ण संबंधी रचा कोई प्रेम गीत अपनी सहेलियों को साथ लेकर गाने लगती :

कन्हाई मोरी बहियाँ मुरूक गई
जात रही जमुना जल भरने
धरि बहियां झकझोरी
तुम तो कन्हाई सदा के निरमोहिया
नरम कलाई मोरी टोर दई
हा हा करत बात नहीं माने
नरम कमर लचकाई दई

गिरमिट काल से ही फीजी भारतीयों को बिरहा, सोहर, फगुआ, विवाह गीतों में रुचि रही है लेकिन बड़ी संतोषजनक बात यह है कि पिछले कुछ सालों से नई पीढ़ी में यह रुचि कम नहीं हुई। लोक गीतों की परंपरा एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती आ रही है। इतना ही नहीं गिरमिट काल से लेकर आज तक इन पीढ़ियों ने सैकड़ों भजन लिखकर प्रकाशित भी करवा दिये हैं। विवाह गीत, चौताल, झूमर शैली में की गई रचनायें आज भी बड़े उत्साह से गाई जाती हैं। कुछ समय पहले बिदेसिया बहुत ही लोकप्रिय हुआ। विशेषकर ऐसा बिदेसिया जिसमें गिरमिट काल का दुख-दर्द सिमटा हुआ था।

कवयित्री अमरजीत कौर का नीचे अंकित गीत कुछ वर्ष पहले बहुत प्रचलित हुआ। शायद वह इसलिये कि मानव-हृदय को वे गीत ज्यादा तरंगित करते हैं जिनमें विरह और वेदना की करुणा और विछोह का रंग गहरा हो –

फिरंगिया के राजुआ माँ छूटा मोर देसुआ हो
गोरी सरकार चली चाल रे बिदेसिया
भोली हमें देख आरकाटी भरमाया हो
कलकत्ता पार जाओ पांच साल रे बिदेसिया
डीपुआ माँ लाय पकरायो कागदुआ हो
अंगुठुआ लगाय दीना हार रे बिदेसिया
पाल के जहाजुआ माँ रोय-धोय बैठी हो
कैसे होई काला पानी पार रे बिदेसिया
जीअरा डराए घाट क्यों नहीं आए हो
बीते दिन कई भये मास रे बिदेसिया
आई घाट देखा जब फिजीआ के टापुआ हो
भया मन हमरा उदास रे बिदेसिया
कुदारी, कुरबाल दीना हाथुआ माँ हमरे हो
घाम माँ पसीनुआ बहाय रे बिदेसिया
खेतुआ माँ 'तास' जब देवे कुलम्बरा हो
मार मार हुकुम चलाय रे बिदेसिया
काली कोठरिया माँ बीते दिन रतिया हो
किस के बताई हम पीर रे बिदेसिया
दिन रात बीती हमरी दुख माँ उमरिया हो
सूखा सब नैनुआ के नीर रे बिदेसिया
ना नैन ज्योति रही न कोई हमरा हो
तू भी न आयो कर वादा रे बिदेसिया
सांझ ढली अब टूटी कमरिया हो
भई सै बेहाल तेरी राधा रे बिदेसिया

भारतीय फिल्मों के गानों के प्रभाव के बावजूद फीजी के सैकड़ों नौजवान बड़ी श्रद्धा से धार्मिक गीत गाते रहते हैं। लगभग हर गाँव में रामायण मंडली है। जब ये लोग इन मंडलियों की बैठकों में राम भजन गाते हैं तो गाँव का सारा वातावरण गूँजने लगता है और खेतों में खड़ी फसल भी झूमने लगती है।

आज भी ग्रामवासी बड़े उत्साह से खंजड़ी, ढोलक, तंबूरा और धनताल बजाते हैं। फगुआ के मौसम में चौताल और झूमर से ये लोग देहाती इलाकों में संगीत भर देते हैं। होली जैसा जब कोई त्यौहार आता है तो बड़ी खुशी और उल्लास से गाते-नाचते हैं। जवानों ने तो

मचलना ही है मगर बड़े-बूढ़े भी मस्त हो जाते हैं और उनकी कमजोर, बूढ़ी नसों में खून गर्म होने लगता है।

1920 के बाद भारतीय समाज के जीवन में एक नया दौर शुरू हो गया। ज्यों-ज्यों समय की रफ्तार तेज होती गई भारतीयों में आर्थिक और सामाजिक चेतना भी आने लगी।

राजनीतिक अधिकारों की माँगें बढ़ने लगीं। उनमें नई किस्म का उत्साह, धैर्य, बल तथा साहस आने लगा। अपनी आर्थिक परिस्थितयों में सुधार लाने के लिए संघर्ष होने लगा। चीनी कारखानों में काम करने वाले मजदूर अपना वेतन बढ़ाने के लिए विद्रोह करने लगे। मगर फीजी में किसानों के लिए जमीन की चली आ रही जटिल समस्या का समाधान आज तक नहीं हो सका क्योंकि जमीन के मालिक काईवीती (आदिवासी) हैं।

भारतीय किसानों को जब पट्टे (लीज) पर जमीन नहीं मिलती तो उनकी जीवन गाड़ी डाँवाडोल होने लगती है। पुराने समय से कौंसिल में और अब संसद में इस विषय पर प्रश्न उठाए जाते हैं मगर परिणाम निराशाजनक ही रहता है। सन् उन्नीस सौ तीस के साल में एक भारतीय किसान ने अपना दुख निम्नलिखित पंक्तियों में यूँ प्रकट करने की कोशिश की थी :

हमें जमीन चाहिये
हमारा यह संदेश
कौंसिल में भी जोर जोर
प्रस्ताव किये पेश
हो गया उनका इशारा
नहीं नहीं, कुछ नहीं
बात जहाँ से शुरू हुई
बस खड़ी रही वहीं
और फिर यह गीत कई वर्षों तक प्रचलित रहा।
क्यों टैक्स भरें सरकार को
हम सभ्य देश के वासी
यह सरकार है अत्याचारी
करती गोरों की रखवारी
झूठे वादों पर हम आये
छोड़ कुटुम्ब परिवार को
क्यों टैक्स भरें सरकार को

गिरमिट प्रथा टूटते ही भारतवंशियों में आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की भावनायें उत्पन्न होने लगी थीं। उन्होंने यह तथ्य स्वीकार कर लिया था कि फीजी ही अब उनका देश है। उन्हें और उनकी संतानों को यहां ही जीना और यहां ही मरना है। वे यह भी सोचने लगे थे कि उन्हें यहां के बहुजातीय समाज में अपनी पहचान कैसे बनाये रखनी है और अपनी भाषा, अपने रीति-रिवाज और अपने अन्य सांस्कृतिक मूल्यों को कैसे सँभाले रखना है।

कई मंदिरों, गुरुद्वारों और मस्जिदों का निर्माण होने लगा। देहातों में कुछ और मंडलियाँ बन गईं। तुलसी, कबीर, सूरदास, मीरा और गुरुनानक जैसे सन्त कवियों के भजन गाँव-गाँव में पहले से अधिक ऊँचे स्वरों में गूँजने लगे।

कई स्थानों पर भारतीय बच्चों की शिक्षा के लिए पाठशालायें खुल गईं और उनमें हिंदी भाषा पढ़ाने की योजनायें तैयार हो गईं।

उन्नीस सौ साठ तक बहुत-सी हिन्दी पुस्तकें और धार्मिक ग्रंथ फीजी पहुंच चुके थे। जो लोग हिंदी-साहित्य में रुचि रखते थे उनके लिए पुस्तक विक्रेताओं ने कुशवाहा कांत जैसे लेखकों के उपन्यास मँगवाने शुरू कर दिये थे।

कुछ अध्यापक जो भारत से फीजी की पाठशालाओं में बच्चों को पढ़ाने का काम करने आये थे या यहां के स्थानीय नौजवान जो भारत के स्कूलों-कालेजों में पढ़कर वापस लोटे थे, उन्होंने हिंदी-उर्दू कविता में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी। कई घरों की अलमारियाँ महादेवी वर्मा, हरिवंश राय 'बच्चन', निराला, पंत, दिनकर, नीरज, मैथिलीशरण गुप्त जैसे प्रसिद्ध कवियों की पुस्तकों से सजने लगीं।

शांति दूत, जाग्रति, फीजी समाचार, जय फीजी जैसे हिंदी समाचार पत्र छपने लगे।

1954 में फीजी ब्रॉडकास्टिंग कमीशन की स्थापना हुई और जब कुछ घंटों के लिए रेडियो पर हिंदी कार्यक्रम प्रसारित होने लगा तो भारतीय समाज को यह बहुत सनसनीखेज बात लगी।

कुछ साहित्य प्रेमियों ने साहित्य सभायें, साहित्य समितियाँ बना लीं ताकि वे लोगों में कविता-कहानियाँ पढ़ने-लिखने की लग्न पैदा कर सकें।

हिंदी कविता का परचम उस दिन ऊँचा लहराया जब हिंदी साहित्य प्रचारिणी सभा ने एक बहुत बड़े कवि सम्मेलन का सूबा टाउन हाल में आयोजन किया।

भारत के उस समय के राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी ने इस कवि सम्मेलन के लिए अपनी शुभ कामनाएँ भेजीं और अपने संदेश में लिखा : ''बाहर से जिन देशों में हिंदी प्रचार कार्य बहुत वर्षों से हो रहा है, उसमें फीजी सर्वप्रमुख है। भारत में हिंदी साहित्य को समृद्ध करने और भाषा का विस्तृत प्रचार करने की दिशा में जो योजनाबद्ध कार्य हो रहा है, मुझे विश्वास है फीजी के प्रवासी भारतीयों को उससे संतोष होगा और प्रेरणा भी मिलेगी। भारतवासियों और विदेश में रहने वाले प्रवासियों के बीच सांस्कृतिक संबंधों को बनाये रखने वाली जो कड़ियाँ हैं, शायद भाषा की कड़ी उनमें सबसे दृढ़ है। मैं आशा करता हूँ कि यह कड़ी इसी तरह मजबूत बनी रहेगी और दिनों-दिन और भी दृढ़ होती रहेगी।''

उस समय के फीजी स्थित भारतीय हाई कमिश्नर श्री के. डी. भसीन ने, जो इस सम्मेलन के प्रधान थे, अपने स्वागत भाषण में कहा : ''साहित्य एक ऐसा भंडार है जो कभी पूरा नहीं होता। वह किसी भी देश में या किसी भी भाषा में पूरा नहीं हुआ। यह मानव जाति के साथ प्रगति करता जाता है और जैसे मानव जाति आगे बढ़ती जाती है, साहित्य भी उसके साथ बढ़ता रहता है। जहाँ तक हिंदी भाषा का सवाल है उसकी परंपरा उच्च तथा प्राचीन है। दुनियां के साहित्यिक इतिहास में हिंदी को प्रमुख स्थान प्राप्त है। हिंदी बोलने वालों के लिए यह गौरव की बात है। वर्तमान समय में जो हिंदी को प्रधानता मिली है और इसका जो विकास हुआ है उसका श्रेय सिर्फ भारत में रहने वालों को ही नहीं बल्कि तमाम उन भारतीयों को भी है जो विश्व के विभिन्न भागों में बस जाने के बावजूद हिंदी की सेवा कर रहे हैं। हिंदी भाषा-भाषी परिवार में फीजी के भारतीयों का विशेष स्थान है। हिंदी के विकास में उनकी देन किसी से कम नहीं। मुझे यह कहते हुए बड़ी खुशी हो रही है कि फीजी भारतीयों ने अपने पूर्वजों की जन्मभूमि से सहस्रों मील दूर होते हुए भी भारतीय संस्कृति तथा परंपरा को जीवित रखा है।''

इस सम्मेलन के अवसर पर हिंदी साहित्य प्रचारिणी सभा ने एक पुस्तक छपवाई जिसमें फीजी के उस समय के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं को स्थान दिया गया। शायद फीजी का यह प्रथम काव्य संग्रह था जिसे हिंदी प्रेमियों ने बड़े चाव से पढ़ा।

1960 से पहले बहुत ही उच्च कोटि की कविताओं की रचना हुई। वे यहां के स्थानीय समाचार पत्रों में छपती रहीं या फिर कभी-कभी रेडियो के माध्यम से हिंदी प्रेमियों तक पहुंचती रही। किसी भी देश का कोई भी लेखक हो वह अपनी भाषा में ही दिल की बात कह सकता है। फीजी में भी बहुत से हिंदी कवि साहित्यिक आकाश में चमके लेकिन यह चमक फीजी के आकाश तक ही सीमित रही। वे अपने संग्रह छपवाने में असमर्थ रहे। पहले पहल तो यहां हिंदी मुद्रण की संतोषजनक व्यवस्था नहीं थी। अगर थी तो बहुत मंहगी पड़ती थी।

कमला प्रसाद, काशीराम कुमुद, हरनाम सिंह, आर प्रसाद, वी. अरुण जैसे लेखकों की रचनाओं को यदि पुस्तकों में सँभाला गया होता तो फीजी के हिंदी भाषी समाज के पास एक बहुमूल्य खजाना होता और उनकी कवितायें कई बाहरी मुल्कों के साहित्यिक आकाश को भी चमका देतीं।

हां, 1947 में एक पुस्तिका 'प्रवास भजनमंडली' अवश्य छपी जो पंडित प्रताप चन्द्र शर्मा की रचनाओं का संग्रह है जो आजकल उपलब्ध नहीं है।

श्री कमला प्रसाद ने अपने जीवन काल में सैकड़ों कवितायें लिखीं। वे 'जाग्रति' और 'जय फीजी' पत्रिकाओं में कभी-कभी छप जातीं किंतु उनके मन में अपनी कविताओं के संग्रह छपवाने की उमंग कभी न मचली। वे एक दो किताबें आसानी से प्रकाशित कर सकते थे क्योंकि वे 'जय फीजी' जैसी पत्रिका के मालिक और सम्पादक भी थे किंतु वे कहा करते थे, 'कविता' मैं अपने लिये लिखता हूँ। मेरे मस्तिष्क में यह जनून कभी पैदा ही नहीं हुआ कि लोग मेरी कविता पढ़कर मेरी बड़ाई करें। कविता मेरे लिये व्यक्तिगत-सी चीज है।'' मगर मेरे जैसे उनके कई मित्र उनके इस

विचार से सहमत नहीं थे। फीजी की हिंदी भाषी जनता ने उनकी कविताओं को पढ़ा, सराहा और कुछ को अपने दिल की गहराइयों में बिठा लिया है।

हिन्दू कॉलेज, दिल्ली के श्री सुरेश ऋतुपर्ण ने हिम्मत की और 1986 में हिंदी अकादमी, दिल्ली के सहयोग से उनकी कविताओं का एक संग्रह छपवा ही दिया। उसे नाम दे दिया ''कमला प्रसाद मिश्र की काव्य-साधना।''

पिछले बीस-पच्चीस सालों में फीजी में कुछ ऐसी हवा चली कि कई लेखकों के कविता संग्रह छप गये। शायद इसका कारण यह था कि यहां हिंदी भाषा में प्रकाशन की सुविधायें पैदा हो गईं या फिर फिल्मी गीतों का कुछ नौजवानों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे आशिक मिजाज बन गये और प्रेम रोग ने उन्हें शायर बना दिया। इस अवधि में छोटी-बड़ी लगभग अठारह पुस्तकें मेरे हाथ लगीं। शायद एक दो और होंगी जो मेरी नजर में नहीं आईं।

भाग मानव मित्र वसन्त (महावीर, 1980), फीजी के लोकगीत (संग्रह, राम कुमारी, 1981), यादों की खुशबू (कंवल, 1984), फीजी लोकगीत (संग्रह, राम नारायण गोविन्द, 1984), मरे दिल की धड़कने (महाराज, 1984) मेरे प्यार का सफीना (आदम, 1985), कमला प्रसाद मिश्र की काव्य साधना (सुरेश, 1986), प्रशांत की तरंगें (सुधाकर/गोविंद, 1988), मेरी मौलिक रचनायें (नेतराम, 1990), गजलों का भूचाल (मुसाफिर, 1992), तेरी याद में (प्रमोद, 1992), चलो चलें उस पार (अमरजीत, 1992) आप के लिये (सरोजनी, 1993), अमरजीत (श्रीवास्तव, 1993), कुछ पत्ते कुछ पंखुड़ियां (कंवल, 1996), समस्या और समाधान (महेश राय, 2000), दर्द अपने-अपने (कंवल, 2001), उपहार (अमरजीत, 2003)।

फीजी कवियों की रचनायें चाहे भारत के लेखकों के स्तर की न हों और उनमें शिल्प की दृष्टि से काफी त्रुटियाँ होंगी फिर भी भारत के पाठकों को यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि भारत से हजारों मील दूर बैठे ये कवि अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

इनमें बहुत से ऐसे भी हैं जिन्होंने स्कूल-कॉलेज में कभी हिंदी पढ़ी-पढ़ाई नहीं। घरों में भी वे ऐसी 'खिचड़ी' भाषा बोलते हैं जिसे हम 'फीजी हिंदी' कहते हैं और इसे अपनी मातृभाषा का दर्जा देते हैं।

भारत के बहुत से विद्वानों का यह मत है कि प्रवासी हिंदी साहित्य को परखने के लिए उसी मापदण्ड का प्रयोग न किया जाए जिससे भारत के कवियों या उपन्यासकारों का किया जाता है। यहां इतना कह देना उचित होगा कि हम सात समुद्र पार बैठे अपनी भाषा और संस्कृति को जीवित रखने के लिए संघर्ष करते रहते हैं।

- जोगिन्द्र सिंह कंवल

पी.ओ. बाक्स 1343,

बा, फीजी

– राकेश पाण्डेय

त्रिनिदाद एवं टुबैगो में भारतीय संस्कृति

दर्पण के चाहे जितने भी खंड हो जाएं, किन्तु प्रत्येक अंश में आकृति पूरी ही नजर आती है। इसी प्रकार भारत की अखण्ड संस्कृति विश्व में जहां भी विद्यमान है, वहां एक सम्पूर्ण भारत ही नजर आता है। मैं अपनी त्रिनिदाद, मॉरीशस, सूरीनाम की यात्रओं में इसी निष्कर्ष में पहुंचा हूं कि यहां के भारतवंशियों की भारतीयता किसी भी रूप में हमसे भिन्न नहीं है। बस भौगोलिक परस्थितियों के कारण खान–पान अथवा रहन–सहन में अंतर आया है; किन्तु हृदय व मस्तिष्क में आज भी भारत रचता–बसता है।

जिस धरती पर दिल्ली, अयोध्या, आगरा, फैजाबाद, पटना, बनारस, कालू रोड, अब्दुल विलेज व महात्मा गांधी स्क्वायर हों; जहां पर सीता, सीया, राधा, आरती, जानकी, पार्वती, गायत्री, कल्याणी, हरि गोपाल, मंगली, भीखू, बुधिया, शनिचरी, सिंह, पाण्डेय, तिवारी, मिश्र, गोसाईं, खान हों; जहां पर दाल, रोटी, बैंगन चोखा, टमाटो चोखा, चना आलू, आलू फ्राई, परांठा, रोटी, दाल पूरी, आलू समोसा, फुलौरी, सेहन्दा आदि दैनिक भोजन हो; क्या उस भूमि की संस्कृति भारत से भिन्न होगी? बिलकुल नहीं। यह भूमि है त्रिनिदाद एवं टुबैगो की।

भारतीय आगमन दिवस-समारोह

160 वर्ष पूर्व फरवरी 1845 को कलकत्ता की बंदरगाह से फटेल रजाक नामक जहाज बंगाल की खाड़ी से 232 स्त्री–पुरुष बंधक मजदूरों को लेकर चला। यह सभी मजदूर स्वजनों से बिछोह की त्रासदी से जूझते हुए अपने उज्ज्वल भविष्य की आशा बांधे उस धरती की ओर जा रहे थे जिसके विषय में उन्होंने केवल सुना था। वे अपनी कल्पनाओं को साकार करने के लिए अल्पकालीन विस्थापन का कष्ट झेलने के लिए तैयार थे। अरकटियों (भर्ती एजेंटों) पर इनको पूरा विश्वास था। ये उस कटु सत्य से अपरिचित थे जिस ओर ये बढ़ रहे थे। 103 दिन की यात्रा के बाद 30 मई 1845 को 225 लोगों को लेकर जहाज त्रिनिदाद पहुंचा। यह सिलसिला 1917 तक चला और लगभग 1,40,000 से अधिक लोग त्रिनिदाद गए। यह वह समय था जहां से भविष्य का आंकलन नहीं किया जा रहा था और न ही यह कल्पना की गई थी कि आने वाले समय में त्रिनिदाद के भविष्य का निर्णय यही मजदूर करेंगे; क्योंकि सभी मजदूर अपने पांच वर्ष के कार्य अनुबंध के बाद अपनी धरती पर अर्थात् भारत में वापस लौटना चाहते थे। किन्तु हुआ वही जो नियति को मंजूर था। अधिकांश बंधक मजदूर वहीं पर रह गए और उन्होंने रच डाला आज का त्रिनिदाद एवं टुबैगो, जिसे वेस्टइन्डीज के नाम से अधिक जाना जाता है। जिसे आज क्रिकेट के लिए और क्रिकेटर ब्रायन लारा के लिए जाना जाता है, जिसे आज भारतीय मूल के नोबल पुरस्कार विजेता सर विद्याधर नॉयपाल के लिए जाना जाता है, जिसे आज भारतीय मूल के भूतपूर्व प्रधानमंत्री वासुदेव पाण्डेय के लिए जाना जाता है।

त्रिनिदाद एवं टुबैगो प्राकृतिक सौन्दर्य एवं सम्पदाओं से युक्त दो द्वीपों वाला एक देश है। यहां की आबादी लगभग तेरह लाख है। त्रिनिदाद एवं टुबैगो की जनसंख्या में चालीस प्रतिशत भारतीय मूल के, चालीस प्रतिशत अफ्रीकी मूल के तथा बीस प्रतिशत अन्य मूल के लोग हैं। त्रिनिदाद की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन है। त्रिनिदाद एवं टुबैगो भारत की ही भांति एक बहुजातीय एवं धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है।

त्रिनिदाद एवं टुबैगो की संस्कृति अमेरिका से प्रभावित होने के बावजूद भारतीय संस्कृति का एक अपना महत्वपूर्ण स्थान है। 160 वर्ष पूर्व ये बंधुआ मजदूर भारत की जिन महान् परम्पराओं व मूल्यों के साथ त्रिनिदाद पहुंचे थे, वे संस्कार आज भी वहां सुरक्षित हैं। भारतीय संस्कृति का प्रचार भारतीय उत्सवों के उल्लासपूर्ण भव्य आयोजनों के कारण संभव हुआ। जो भारतीय मजदूर करार मुक्त हो गए थे और जो करार के अंतर्गत बागानों में रहते थे, वे अपने आकाओं से अनुमति लेकर त्यौहारों में सम्मिलित होने के लिए मेलों में आते थे। इस प्रकार वहां पर रामायण, आल्हा-उदल, अकबर-बीरबल व भोजपुरी लोकगीतों आदि का गायन व मंचन आरंभ हुआ और धीरे-धीरे इस प्रकार के आयोजन सभी स्थानों पर होने लगे। आज वहां दीवाली नगर के नाम से जाना जाने वाला भारतीय सांस्कृतिक कार्यक्रमों का प्रमुख आयोजन स्थल है, जो कि विराट एवं भव्य है। दीवाली नगर दीवाली से लेकर होली तक सभी भारतीय त्यौहारों का प्रमुख आकर्षण केन्द्र रहता है जहां पर भारतीय हजारों की संख्या में भारतीय परिधानों में एकत्रित होते हैं। भारतीय परिधानों में स्त्रियों में प्रमुख साड़ी, चोली, कुर्ता, ओढ़नी, सलवार, कमीज, घाघरा, दुपट्टा तथा पुरुषों में कुर्ता, पजामा, धोती, पगड़ी आदि सम्मिलित हैं।

भारतीय परिधानों में त्यौहारों का आनंद

त्रिनिदाद में आरंभकाल से ही साम्प्रदायिक सद्भाव रहा है। हिन्दू व मुस्लिम दोनों ही मजदूर के रूप में जहाज से यहां आए थे। एक दूसरे को जहाजी भाई मानते थे। वे अपने साथ यहां पर मुस्लिम व हिन्दू त्यौहारों की एक विस्तृत श्रृंखला भी साथ लाए थे। पैगम्बर मोहम्मद के शहीद पोतों, हुसैन और हसन के मातम का त्यौहार हैं। मूलतः मुसलमानी जनता के लिए छुट्टी का दिन होता है; किन्तु सभी सौहार्दपूर्वक मनाते हैं। ईद व अन्य मुस्लिम पर्व भी मिल-जुल कर मनाये जाते हैं। इसी प्रकार मुसलमान भी भारतीय त्यौहारों का बढ़-चढ़कर आनंद लेते हैं। त्रिनिदाद में दीवाली व होली का विशेष महत्व है। होली को फगवा के रूप में जाना जाता है जिसमें कि सभी बड़े-छोटे खुलकर रंगों से खेलते हैं। इस अवसर पर पिचकारी संगीत का विशेष महत्व है जो कि भारतीय-त्रिनिदादियन संगीत पर आधारित है। एक रोचक तथ्य यह भी है कि त्रिनिदाद में मात्र दीपावली को ही दीपावली के दिन मनाया जाता है, जबकि अन्य सभी पर्व आने वाले रविवार के दिन ही मनाये जाते हैं। दीपावली व 30मई ,भारतीय आगमन दिवस को वहां की सरकार द्वारा राष्ट्रीय अवकाश घोषित है और यह प्रसन्नता की बात है कि दीपावली पर्व की पवित्रता बरकरार है। इस सन्दर्भ में त्रिनिदाद के भारत स्थित उच्चायुक्त महामहिम पण्डित मणिदेव प्रसाद ने एक साक्षात्कार के प्रश्न के उत्तर में मुझसे कहा था कि आप जिस ढंग से भारत में दीपावाली का त्यौहार मनाते हैं, त्रिनिदाद में हमारे लिए यह लक्ष्मी माता के पूजन का एक अत्यन्त पूनीत और पवित्र अवसर है; किन्तु मेरा अनुभव है कि भारत के कुछ क्षेत्रों में इस त्यौहार में व्यावसायिकता का बोध अधिक है। आप देखेंगे कि दिल्ली में जिस प्रकार दीपावली मनाई जाती है, वह हमारे लिए कुछ भिन्न है। यह कथन बिलकुल सत्य है कि दीपावली हमारे महानगरों में व्यावसायिक स्वार्थों की पूर्ति करने का सुअवसर मात्र बनकर रह गई है। त्रिनिदाद में गंगा नदी के विकल्प के रूप में कैरिबियन समुद्र के कुछ किनारों में त्योहारों के दिन नहावन व अन्य परम्पराओं का निर्वाह किया जाता है।

त्रिनिदाद में भारतीय संस्कृति की बात समुद्र में मंदिर की चर्चा के बिना अधूरी है। इस मंदिर से शिवदास, साधु शिवदास हो गए। सन् 1903 में साधु शिवदास की उम्र लगभग 4 वर्ष की थी। उस समय त्रिनिदाद आने वाले जहाज पर अपने मां-बाप के साथ वे भी सवार हो गए। उस यात्रा में अनेक लोग काल की गोद में समा गए। कोई भी इस भयावह यात्रा को याद नहीं करना चाहता था। बालक शिवदास ने अनेक शव समुद्र की भेंट होते हुए देखे थे; किन्तु शिवदास का परिवार जीवित त्रिनिदाद पहुंच गया। ज्यों-ज्यों शिवदास बड़े हुए वे भी वहां पर कार्य कर रहे भारतीयों का एक हिस्सा बन गए। माता के देहावसान के बाद वे कोलकाता स्थित अपने घर वापिस लौट आए; किन्तु वह पुन: त्रिनिदाद जा बसे। समय के साथ शिवदास के मस्तिष्क में हलचल कम न हुई और उन्हें भयावह स्वप्न दिखाई देने लगे । सन् 1947 में अपने स्वप्नों का अर्थ समझने के लिए वे अपनी पत्नी सामदेई के साथ पुन: कोलकाता आए। गुरु ने उन्हें आदेश दिया कि जिस जलयात्रा में अनेक भारतीयों ने अपनी जानें गंवा दी थीं, उस समुद्र के किनारे वे एक शिव मंदिर का निर्माण करें। शिवदास ने शीघ्र ही त्रिनिदाद लौटकर समुद्र के किनारे एक मंदिर का निर्माण आरंभ किया; किन्तु स्थानीय प्रशासन से अनुमति न मिलने के कारण यह मंदिर बार-बार धवस्त कर दिया जाता रहा। उन पर पांच सौ डॉलर का जुर्माना भी किया गया, जिसके जमा न करने पर उन्हें चौदह दिन जेल में भी बिताने पड़े, किन्तु जेल से छूटने पर उन्होंने मंदिर का निर्माण पुन: आरम्भ कर दिया। प्रशासन ने उस भूमि को गैर-कानूनी सिद्ध कर दिया और कहा कि यह कैरोनी लिमिटेड की भूमि है जिसके जवाब में शिवदास ने उस भूमि की

महात्मा गाँधी की स्मृति

साधु शिवदास की प्रतिमा

सीमा के बाद समुद्र के अन्दर जाकर मन्दिर बनाना आरम्भ कर दिया। इसके विरोध में सरकार ने अनेक प्रयत्न किये। युवक शिवदास ने इस प्रयास में भले ही अपना जीवन दे दिया किन्तु अन्तत: सरकार उनके प्रयासों के आगे नतमस्तक हो गई। उनकी मृत्यु के समय तक मन्दिर अर्द्धनिर्मित अवस्था में था। उनकी मृत्युपरांत लोगों ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया और आज यह त्रिनिदाद का प्रमुख पर्यटन एवं आकर्षण स्थल है, जहां पर समुद्र की उफनती लहरें भी साधु शिवदास को प्रणाम कर आगे बढ़ जाती हैं।

पूरे विश्व में जहां पर भी भारतीय हैं वहां पर भारतीय सिनेमा व संगीत का प्रभाव अवश्य है। त्रिनिदाद के लोग भले ही हिन्दी व भोजपुरी बोलना भूल चुके हों; किन्तु हिन्दी फिल्मों के गानें अवश्य गुनगुनाते रहते हैं। नाच-गाना आज की त्रिनिदादियन संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। कहावत है कि यदि चम्मच भी गिर जाए तो उसकी खनक पर त्रिनिदादियन थिरक उठता है। यहां का राष्ट्रीय वाद्य यंत्र स्टील बैंड है जिसकी उत्पत्ति विश्व युद्ध के समय हुई थी। बंधक के रूप में गए भारतीय यहां से अपने साथ अनेक पारम्परिक भारतीय

वाद्य यंत्र भी मनोरंजन के लिए ले गए थे जिनसे कि तब तक त्रिनिदाद व समूचा वेस्टइंडीज अनभिज्ञ था। इन वाद्य यंत्रों में प्रमुख तासा, तबला, ढोलक, मजीरा, बांसुरी, सितार, हारमोनियम आदि प्रमुख वाद्य यंत्र थे जिनको कि ये भारतीय होरी, बिरहा, गज़ल के समय में प्रयोग करते थे। नगाड़ा व तासा का प्रयोग अहिर नृत्य व बिरहा गायन में प्रमुखता से किया जाता था। धीरे-धीरे वहां पर चटनी भोजपुरी संगीत अत्यंत लोकप्रिय हो गया। आज ये सभी वाद्य यंत्र वहां के संगीत का प्रमुख अंग हैं। वहां पर प्रत्येक वर्ष कुमार शानू, सोनू निगम, अभिजीत, आशा भोंसले, सुदेश भोंसले जैसे गायक जाते रहते हैं और उनके बहुत सफल व सुपरहिट आयोजन होते हैं। रेडियो 91.1 एफ एम पर हिन्दी गाने भी भारतीयता की सुगंध बिखेरते रहते हैं। त्रिनिदाद में कार्निवल मनाया जाने वाला प्रमुख उत्सव है जिसमें कि अफ्रीकी मूल के लोगों के साथ-साथ भारतीय मूल के लोग भी बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं।

त्रिनिदाद में जो बात सर्वाधिक खलती है, वह है भाषा की। यहां हिंदी व भोजपुरी सहित अन्य भारतीय भाषाएँ मृतप्राय हो रही हैं। जब हम भारतवंशी बाहुल्य देशों की चर्चा करते हैं तो उसमें त्रिनिदाद का स्थान प्रमुख है। एक लोकप्रिय भोजपुरी गीत है–'कैसे बनी कैसे बनी, फुलौरी बिना चटनी कैसे बनी...।' त्रिनिदाद में फुलौरी तो बन गई है, साथ में पूर्वी उत्तरप्रदेश व बिहार अंचल के ठेठ भोजन जैसे चोखा (भरता), दाल, चावल, सेहन्दा (अरबी के पत्तों व उड़द की दाल से बना पकवान), दालपूरी व गुलगुला आदि सुगंध बिखेर रहे हैं; किन्तु जब परोसने वाला पूछता है–'डू यू वान्ट मोर फुलौरी', तो फुलौरी मात्र पेट भरने का साधन प्रतीत होने लगती है जबकि फुलौरी उत्सव का पकवान है। फुलौरी प्रतीक है उस संस्कृति की जिसे भारतवंशियों ने 160 वर्षों से सहेज कर गौरवान्वित किया है। यहां पर व्याप्त संस्कृति में भोजन, भजन, भेष तो विशुद्ध रूप से भारतीय हैं; किन्तु भाषा अप्रयोग के कारण कालांतर में क्षीण हो गई है। यहां पर शुभ अवसरों पर गाए जाने वाले अनेक लोकगीत तो अभी भी गाए जाते हैं; किन्तु अर्थ नहीं समझते। देवनागरी का स्थान रोमन लिपि ने ले लिया है। यहां पर एक रोचक तथ्य यह है कि हनुमान चालीसा व रामायण का पाठ तो सभी बड़े मनोभाव से करते हैं; किन्तु उसका अर्थ न तो प्रवचनकर्ता ही समझते हैं और न श्रोता। बस ! रोमन लिपि में लिखी हुई पुस्तकों से पंडित जी पहले लिखा हुआ पढ़ देते हैं, फिर उसका अंग्रेजी में भावार्थ समझाते हैं। इस प्रकार यहां धर्म तो जीवित है; किन्तु तर्क नहीं है। इस प्रकार त्रिनिदाद में हिन्दी की दशा संतोषप्रद नहीं है। भारत सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

आज त्रिनिदाद कैरेबियन क्षेत्र का सबसे महत्वपूर्ण व समृद्ध देश है। वहां के भूगर्भ में कच्चे तेल की प्रचुर मात्रा होने के कारण वहां का अर्थतंत्र काफी सुदृढ़ है। वहां की समृद्धि आम जनता में दिखाई पड़ती है; किन्तु पश्चिमी सभ्यता के साथ-साथ मादक द्रव्यों के सेवन की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी है। इसका प्रतिशत अफ्रीकी मूल के लोगों में अधिक है। मंदिरों-मस्जिदों में धार्मिक प्रवचनों के दौरान सदैव इस ओर बल दिया जाता है कि भारतवंशी नशा की प्रवृत्ति से दूर रहें, जिसका प्रभाव सरकार द्वारा जारी किए गए आपराधिक आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि भारतीय मूल के लोग भारतीय संस्कृति का अनुसरण करते हुए इन प्रवृत्तियों से दूर हैं। यह भारतीय संस्कृति की शक्ति है कि आज त्रिनिदाद हमसे हजारों किलोमीटर दूर होते हुए भी हमारे इतने निकट है। वहां के लोग अपनी जड़ें खोजने भारत आने लगे हैं। उदाहरण के रूप में वहां के पूर्व प्रधानमंत्री वासुदेव पाण्डेय ने भी यह पता लगवाया कि वह मूलत: कहां के हैं जिससे ज्ञात हुआ कि उनके पूर्वज आजमगढ़ के थे। पिता पाण्डेय और नानी पक्ष अहिर जाति के थे। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण हैं कि त्रिनिदाद के लोग भारत में अपनी जड़ें तलाश रहे हैं। एक बार वासुदेव पाण्डेय जी ने प्रहसन में बताया कि उन्हें पाण्डेय किसलिए कहते हैं। उनके पूर्वज पानी पिलाते थे और पानी+देय से वे पाण्डेय हो गये।

त्रिनिदाद के हृदय में भारत बसता है; किन्तु यह विचारणीय तथ्य है कि त्रिनिदाद एवं टोबैगो की यह स्थिति भारत में नहीं है। हमारे देश में त्रिनिदाद से अधिकांश लोग परिचित नहीं हैं। यह हमारी कमी है, त्रिनिदाद की नहीं। विश्व में जहां-जहां भी भारतवंशी हैं वहां-वहां भारतीय संस्कृति है। वहां पर सांस्कृतिक संबंधों को प्रगाढ़ करने के लिए सरकारी प्रयासों के अतिरिक्त जन-सामान्य के आपसी संवाद व समन्वय की आवश्यकता है। वर्तमान में त्रिनिदाद के भारत स्थित उच्चायुक्त महामहिम पण्डित मणिदेव प्रसाद के प्रयासों से त्रिनिदाद व भारत में आपसी संबंधों की जो बयार बहना आरम्भ हुई है उसमें यह संभव होता प्रतीत हो रहा है।

– राकेश पाण्डेय

5/23, गीता कॉलोनी, दिल्ली-110031

– सिम्मी हर्षिता

उस फूल का नाम

मित्रा अब मेरे यहां कभी नहीं आती। मित्रा अब यहां नहीं रहती। जब-जब मैं इस सड़क पर से गुजरती हूँ और यह मोड़ आता है तो मुझे वह घर दिखाई दे जाता है जहाँ कभी मित्रा रहा करती थी और याद आ जाती है वह चीज जो उसे सबसे अधिक पसंद थी- जो उसके बदरंग जीवन में रंग भरती थी-मुरझाए चेहरे को एक ताजगी देती थी- मन को खिलने की खुशी और आश्वासन देती थी। उसे पाने के लिए उसने कभी-'फूल तोड़ना मना है' के लिखित-अलिखित आदेश पर ध्यान नहीं दिया था। ध्यान देकर अपनी पसंद पर कभी बोझ नहीं डाला था। बस वह इतना सोचती और हाथ आगे बढ़ा देती- 'कम से कम मुझे एक फूल-एक खुशी पाने का अधिकार तो है ही। मैं ईश्वर नहीं, पर ईश्वर की संतान हूँ ही, सो फूलों पर थोड़ा सा हक मेरा भी तो बनता ही है। ईश्वर के लिए फूल तोड़ना मना नहीं होता तो फिर मेरे लिए मनाही क्यों हो?'

जो उसका नाम नहीं जानते थे, फूल उन्हें उसका नाम बता देते- 'फूलों वाली वही लड़की!' मित्रा ने कब से बालों में फूल टाँकना आरम्भ किया है- वह चोटी से चल कर कब जूड़े तक जा पहुँचा है – यह उसे याद नहीं आता। फूल टाँके बिना उसकी हँसी और सज्जा अधूरी है- यही याद रहता है। जो फूल मित्रा सालों-सालों से लगाती आ रही है- वह रातों-रात बूआ की आँखों में एकाएक काँटे की तरह चुभने-खटकने लगा है। बूआ पहली बार टोकती हैं- ''कुँआरी लड़कियाँ- भली लड़कियाँ हमारे यहां फूल नहीं लगातीं।''

''बूआ, ये तो मैं वर्षों से लगा रही हूँ। फिर अब ये भले-बुरे की बात क्यों ?''

''पहले तू लड़की थी- अब जवान हो गई है! ऑफिस जाने लगी है!''

''ये दोनों बातें भी तो वर्षों पुरानी हैं!''

बूआ का सारा ध्यान मित्रा के फूल में आकर अटक गया है। बूआ मित्रा के प्रति एक संरक्षिका का दायित्व पूरी ईमानदारी और चौकसी से निभाना चाहती हैं और फूल उसमें रुकावट डाल रहा है। बे माँ-बाप की लड़की कहीं राह से कुराह न हो जाये! जैसे कि माँ-बाप वाली लड़कियाँ राह से कुराह न होती हों!

''फूल को फूल लगाने की क्या जरूरत है भला ?'' बूआ चिंता से अगला तर्क देती है।''

''मैं तो काँटा हूँ- फूल नहीं!'' मित्रा लापरवाही से हँस देती है।

बूआ के मुख से अड़ोसन-पड़ोसन के सामने फूल झरने लगते हैं- ''मित्रा जैसी भली-सँभली लड़की आज के जमाने में मिलनी कठिन है। कितना तो काम करती है घर का। दफ्तर जाने वाली आजकल की लड़कियाँ घर का काम करना बिल्कुल पसंद नहीं करतीं।'' बूआ मित्रा के लिए पड़ोसियों का प्रमाणपत्र चाहती हैं मन की पूरी तसल्ली के लिए।

मित्रा के मन ने रसोई से उत्तर दिया- 'अरे तो मैं कौन-सा खुशी से करती हूँ। इतना सब काम? किये बिना गुजारा नहीं, सो करती हूँ। माँ होती तो मैं भी उसके सामने नखरे और लापरवाही करती। आफिस से लौटकर थकी-सी पलंग हो जाती। माँ हाथ में गरम चाय का प्याला थमा देती-सिर पर हाथ फेरती। कभी डाँटती तो मैं भी रूठ जाती और मनाने की फिक्र माँ को ही करनी पड़ती। अब तो न रूठना-न मानना। उस रिश्ते का स्वाद कैसा होता है, यह मैं माँ बनकर जानना-चखना चाहती हूँ।'

बूआ अगली बात और भी खुश होकर बोलीं- ''फैशन तो उसे छू तक नहीं गया है। न लिपिस्टिक, न बिंदी। बस एक सीधी-सरल सी सूती साड़ी लपेटकर चल देती है आफिस।''

पड़ोसन उस रंग में भंग डालते हुए बोली- ''पर ये तेरी दुलारी मित्रा दफ्तर में शकुंतला बनकर क्यों जाती है? सजने के और भी ढंग हैं जमाने की चलन के अनुसार। दफ्तर और फूल का तो कोई जोड़-मेल दिखाई नहीं देता। हर चीज का एक वक्त और जगह होती है। अब कोई लड़की चलता-फिरता बाग-बगीचा बनकर चल पड़ेगी तो जो नहीं भी देखना चाहेगा उसकी भी आँख उस ओर उठ जाएगी।''

बूआ ने वाक्य को बीच में ही काट दिया- ''आखिर कहना

क्या चाहती है तू?''

''कुछ नहीं। कुछ नहीं। मुझे क्या कहना है ?'' पड़ोसन चीखता-सा स्वर सुनकर भयभीत उठ खड़ी हुई। पर बूआ की शंका को उसके उत्तर ने पुख्ता कर दिया और भय तथा पराजय के अंधे कुएँ में धकेल दिया। कुछ पल चुप रहने के बाद मानो किसी लम्बी बीमारी से उठते हुए अपने आप से बोली-''मैं तो बहुतेरा मना करती हूँ, पर मानती ही नहीं। मेरी अपनी बेटी होती तो मानती न। अब भला वह क्यों मानेगी ?''

जैसे कि अपनी बेटियाँ बहुत आज्ञाकारी होती हों।

सवालों और फूलों के काँटे दिन-रात चुभते रहे। शब्दों के पत्थर बूआ के सिर से आ-आकर टकराते रहे। बूआ का चेहरा दो ही दिनों में कांटे की तरह नुकीला और पत्थर की तरह कठोर बन गया। घर के फूलों ने उस दिन से हँसना छोड़ दिया। वे कूड़ेदान में या गेट के बाहर नुचे-खुचे रूप में रोते हुए मिलते। मित्रा उन्हें देखती और उसके आँसू फूलों के आँसुओं से जा मिलते- 'ओ बूआ। तुम्हें हो क्या गया है? फूलों से इतना डर? तुमने इन्हें जान से मार डाला? मेरे कारण इतनी क्रूरता और ऐसा कठोर अन्याय इनकी कोमलता के प्रति?'

और मित्रा बीमार पड़ गई।

हाल ही में जापान की व्यावसायिक यात्रा से लौटे उच्चाधिकारी के हृदय में अपनी कम्पनी की उन्नति के लिए कई आदर्श विचार कार्यान्वयन के लिए हलचल मचाते रहते हैं। इस यात्रा ने उन्हें बताया है कि आदर्श मानव ही सम्पूर्ण गुणवत्ता वाले संस्थान, समाज और देश को जन्म देता है और वे एक आदर्श मानव, एक आदर्श प्रशासक बनना चाहते हैं। अपने सहकर्मियों को उनके जन्मदिन पर शुभकामनाएँ देना, उनकी कार्मिक सफलताओं पर उन्हें पुरस्कृत करना-वक्त जरूरत पर सलाह देना, उनके व्यक्तिगत दुख-कष्ट में हार्दिक सहानुभूति प्रदर्शित करना आदि उनकी कार्यशैली का वैसा ही सहज हिस्सा बन गया है जैसा मित्रा द्वारा जूड़े में फूल टाँकना।

लगभग आठ दिन तक मित्रा आफिस न जा पाई। किसी न किसी के हाथ उसकी बीमारी की अर्जियाँ पहुँचती रही। उसके वह आदर्शप्रिय उच्चाधिकारी महोदय एक दिन आफिस बंद होने के बाद संध्या को अपनी स्टेनो-टाइपिस्ट मित्रा का हालचाल पूछने आ पहुँचे। हाथों में एक फूल नहीं फूलों का गुलदस्ता लिए हुए और उस पर लिखी हुई शुभकामनाएँ- 'गैट् वैल् सून्।'

इतने दिनों बाद अपने सामने फूलों को हंसता देखकर मित्रा का चेहरा फूल-सा खिल उठा- ''थैंक्स सर।''

''जहाँ ढेरों काम पड़ा हो करने को, वहां किसी एक को इतनी देर तक आराम करने का अधिकार नहीं है। दूसरों को भी तो आराम करने का अवसर मिलना चाहिए ना।'' सुनकर मित्रा हंस दी और वे भी हंस दिए। न बूआ ने उन्हें बैठने को कहा, न मित्रा की कुछ कहने की हिम्मत हुई। वे जल्दी-जल्दी आए और खड़े-खड़े चले गए।

मित्रा उन फूलों पर रह-रहकर हाथ फेर देती और कभी आँखों से लगा देती तो टप-टप दो आँसू चू पड़ते।

अगले दिन जन्मदिन का बधाई कार्ड आ पहुंचा। वह एक बार फिर हंस दी और रो दी। बॉस के चेहरे में उसे माँ का चेहरा झिलमिलाता नजर आया तो हंसी खिलखिलाहट में बदल गई- ''बूआ, अब मैं ठीक हूँ। कल ऑफिस जाऊंगी।'' उसने बीमारी की चादर परे फेंकते हुए कहा।

बूआ ने सुना और दो दिन से शंकित डोलता मन चौंक उठा- 'फूलों का गुलदस्ता। गैट् वैल् ....। अब जन्मदिन पर बधाई कार्ड। वह दफ्तर है या घर? वह बॉस है या इसके जूड़े का फूल?'

एक प्रेम-कहानी के लिए भला और क्या चाहिए। ऐसा भी नहीं कि बूआ ने कभी फिल्में देखी न हों, जिनमें प्रेम की खेती के लिए सही मौसम तथा बीज संबंधी सारी जानकारी दे दी जाती है। प्रेम और फूलों का रिश्ता भला कौन नहीं जानता? बॉस और उसकी स्टेनो-टाइपिस्ट के रिश्ते की कहानियों को भी कौन नहीं जानता? सच तो यह है कि फिल्मों के कारण अब हर रिश्ता एक खुली किताब बन गया है। हर रिश्ते का दो और दो चार वाला सरलीकरण हो गया है। कब-कहां-क्यों और क्या होगा- सभी जान चुकें हैं तो बूआ क्यों न जाने ?

बूआ ने न कुछ पूछा-न कुछ कहा। जैसे कि ऐसा तो होना ही था फूलों वाली लड़की के साथ। सर पर माँ-बाप का अंकुश न होगा तो लड़की कहीं न कहीं गिरेगी ही। जैसे कि जिनके माँ-बाप होते हैं, वे गिरती न हों। माचिस लकड़ी से मिलेगी तो उसे जलाएगी ही। भले ही माचिस वर्षा से भीगी हुई हो और लकड़ी सीली हो। पर कभी न कभी धूप निकलती ही है और गीलापन सूखता ही है और चाहे जो भी हो या न हो, पर यह नहीं हो सकता कि जिस बात का बूआ को शक हो गया हो- वह सच न हो। यदि बूआ कहती हैं कि घर मैला हो

गया है, ट्रंक और आलमारियों में पड़े हुए उसके सारे कपड़े मैले हो गए हैं, उसके बाल मिट्टी से लथपथा गए हैं, तो धुलाई ही अंतिम सत्य है। उसके सत्य के बीच किसी का कोई दूसरा सत्य दखल नहीं दे सकता।

उस दिन की आधी रात को बूआ चौंककर उठ बैठीं और एकाएक जोर-जोर से रोने लगीं। उनकी आवाज़ कोलतार के कड़वे घने धुंएं की तरह दम घोटने वाली थी। क्या बूआ ने कोई भयानक सपना देखा है? क्या बूआ को आज रोने का दौरा पड़ गया है? फूफा बार-बार पूछते हैं और बूआ सिसक-सिसक कर सुनाती है- ''सपने में मित्रा की माँ मुझे कह रही थी- 'तेरी इस फूलवती के लक्षण मुझे ठीक नहीं लगते। ये फूल लगाकर दफ्तर क्यों जाती है। तू इसे मना क्यों नहीं करती? इसका बॉस फूलों का पेड़ लेकर इसके लिए क्यों आया था? तूने पढ़ा क्या? क्या लिखा था उस पर? गैट् वैल् मून्। भला उसे क्या मतलब है मित्रा के जल्दी ठीक होने या न होने से? उसने 'मून्' क्यों लिखा है? उस मुए ने इसे 'चांद' क्यों कहा? उसके इसके जन्मदिन पर बधाई कार्ड क्यों भिजवाया है? लगता है किसी गलत चक्कर में पड़ गई है मेरी मित्रा। मेरी बेटी का भला बुरा अब तेरे हाथ में ही है।' पर मैंने मित्रा की माँ को समझा दिया है कि तू चिंता मत कर। मैं सब ठीक कर दूंगी।''

''अरे तेरा होना ही काफी नहीं था जो मित्रा की माँ भी तेरे वहम के गोरखधंधे में शामिल हो गई है। पर ये 'गैट् वैल् मून्' का क्या चक्कर है? उसमें तो 'सून' लिखा था न। एक साधारण सा औपचारिक कथन। '' फूफा ने पूछा।

''नहीं। सून् नहीं मून् ही लिखा था।''

''अच्छा चल, सो जा। तेरे अपने मन का ही खलल है ये सपना। मित्रा की माँ को पच्चीस साल तक गुमशुदा रहने के बाद आज ही आना था क्या? उसे और कोई काम नहीं तुम्हारे बेकार मन में आने के सिवा?''

''तुमने मेरे मन को बीमार कहा ?''

''मैंने बेकार मन कहा था।''

''नहीं। तुमने बीमार मन कहा था।''

''अरी भली औरत। आज ये क्या उलटवांस हो गया है तुम्हें? कुछ को कुछ पढ़ने-सुनने लगी हो। चलो, सो जाओ शांत मन से।''

''तुमने अशांत मन कहा ?''

''हे प्रभु। हमारी रक्षा करो। ये क्या हो रहा है अब इस घर में ? अब ये उलटी गंगा बहाना बंद करो।''

''अब ये जो मित्रा राह से कुराह हो गई है तो हमारी बेटियों का क्या होगा? उन पर भी इसका बुरा साया पड़ेगा।'' बूआ ने भूकंप की बोझिल चट्टान के नीचे दबे-कराहते स्वर में कहा।

फूफा ने शांत भाव से बूआ की बात पर भीगा कंबल डालकर शक की आग बुझाने की कोशिश करते हुए कहा- ''अरी भलीमानुस। फूल तो वह वर्षों से लगाती आ रही है। समझ में नहीं आता कि इसमें अब नई बात क्या हो गई है? लड़की ही तो फूल लगाएगी, कोई लड़का नहीं। या हम-तुम जैसे बूढ़े लगाएंगे? एक झूठे से सपने के वहम में आकर जो इतना ही एक फूल से डरती हो तो मित्रा को घर में बिठा दो या चुपचाप शादी कर दो और निश्चिंत सो रहो। इसके बाप ने पांच हजार रूपए दे ही रखे हैं इसके विवाह के लिए।''

सुनते ही बूआ के खुले-रूखे बाल फुफकारते हुए चीखे- ''हूँ दे दो । कर दो। अब तो बहुत बड़ा दिल हो गया है तुम्हारा। क्या पांच हजार में शादी होती है लड़की की। अपनी सारी जमा-पूंजी इसकी शादी में लगा देंगे तब जाकर डोली उठेगी। तब क्या अपनी दोनों बेटियों की शादी किसी राजा के गड़े खजाने से होगी ?''

''जब देखो तब नीमराग ही गाने लगती हो। अरे कभी खांडव राग भी गा दिया करो। बहुत हुआ। अब सो ही जाओ।'' सारे मामले को तरह देते हुए फूफा गुसलखाने की ओर मुड़ गए और मित्रा दरवाजे की ओट से निकलकर चुपचाप अपनी चारपाई पर सिल हो गई। उसे लगा चारों ओर खड़ा अंधेरा उसे धीरे-धीरे निगल रहा है और एक दिन वह बूआ की जगह ले लेगी।

बूआ के सिर पर जो वहम और सनक सवार हो जाए तो उसे फिर रोकने-समझाने या विरोध करने की सामर्थ्य किस में है भला? और जो दीवार बनेगा उसे तो फिर दिन-रात लड़ाई-झगड़ा, रोना-धोना तथा भूख-हड़ताल सहनी होगी। बूआ के सामने खड़े होकर सबका जीना दुश्वार करने के बदले अच्छा यही है कि तूफान को रास्ता दे दो ताकि बहुत कुछ खड़ा-पड़ा नष्ट होने से बच जाए। यदि सुबह उठते ही फूफा को ये आदेश हुआ है कि मित्रा के लिए आज की गाड़ी से इलाहाबाद जाने का टिकट ले आओ तो लाना ही पड़ेगा- मित्रा को अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर विदा होना ही

पड़ेगा– बात चाहे कितनी ही अतर्कसंगत और अपमानजक क्यों न हो। तार को भी मामा–मामी तक यह सूचना उसी दिन पहुंचानी पड़ेगी– ''मित्रा आज आ रही है। वहां किसी अच्छी सी सरकारी नौकरी का प्रबंध करें। बाद में यहां ट्रांसफर करवा लेंगे।''

यह सारी उतावली बदहवासी मामा–मामी को अच्छी नहीं लगती। समझ में भी नहीं आती। पहुंचते ही वे बार–बार खोदने लगते हैं– '' ... कारण क्या है? नौकरी तो थी ही। सरकारी नौकरी की भी साथ–साथ कोशिश की जा सकती थी। रातों–रात ऐसी उठा–पटक की कौन सी मुसीबत आन पड़ी है? क्या किया है तुमने?'' बूआ के शक की बात यदि वह कह दे तो क्या मामा–मामी को अच्छा लगेगा? क्या वे उस पर विश्वास करेंगे? मित्रा के मुंह पर ताले और आँखों में ठहरी हुई कुहरीली रात।

दो दिन गुजरते–न–गुजरते दूसरी तार आ पहुंची–''तुम्हारे जाते ही बूआ बहुत बीमार हो गई है और दिन–रात तुम्हें पुकारती रहती थी। तार मिलते ही लौट आओ।''

दिल्ली से दौलताबाद–दौलताबाद से दिल्ली! न हंसी आती न रोना आता इस सारे नाटक पर। यह अनुभूति तक स्पष्ट न हो पाती कि वह दिल्ली है या इलाहाबाद! कभी उसे लगता जैसे वह मर गई है और अपना दाह संस्कार करके लौटी है।

लगभग पंद्रह दिनों के बाद वह काम पर जाने के लिए तैयार हुई है। बूआ एक बार फिर अच्छी तरह से टोह–टाहकर पूरी तसल्ली कर लेना चाहती हैं– ''मित्रा, तेरी नौकरी में क्या फूल लगाना जरूरी है?''

''नहीं तो बूआ! वह तो यूं ही अपने मन की खुशी के लिए लगाती थी। अपने ढंग से खुश होने का अधिकार आखिर सबको है। जैसे चाय के बिना आपसे नहीं रहा जाता वैसे ही फूल के बिना मुझसे नहीं जीया जाता! पर अब आप फूलों की चिंता न करें।''

''तू खुश रह, यह मैं भी चाहती हूँ, पर खुशी के और भी ढंग हैं। बस, तू फूल–ऊल मत लगाया कर। मुझे ये सब चोचले अच्छे नहीं लगते। तेरे सिर पर तेरे माँ–बाप नहीं हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि तू जो चाहे करे और हमारे घर की बदनामी हो। मेरी बेटियों के विवाह में अड़चन आए।''

''बूआ, आप फूल को किसी पुरुष या चाल–चलन के साथ क्यों जोड़ती हैं?''

''मैं ज्यादा सवाल–जवाब नहीं सुनना चाहती। फूल तुझे नहीं लगाना है तो बस नहीं ही लगाना है और हां अपने बॉस से हेल–मेल बढ़ाने की जरूरत नहीं। उसे हमारे घर आने की भी जरूरत नहीं। नहीं तो तेरा यहां नौकरी करना नहीं हो पाएगा। तेरे फूफा से कह दिया है कि कहीं और कोशिश करें।''

मित्रा में खास बात तो उसका फूल ही था। फूलों वाली लड़की के फूल पर ही आकर दृष्टियां टिक जाती थीं। इसलिए बिन फूलों वाली मित्रा उस दिन एक प्रश्न बन गई। फूल देखते रहने वालों को फूल की अनुपस्थिति अखरी। जैसे कि चेहरे पर रंग–रोगन लगाते रहने वालों से उसके न होने पर पूछ बैठना कि ये बासी–बेरौनक चौखटा क्यों? हे रंगमुखी। क्या बीमार हो ?

बॉस ने डिक्टेशन देते हुए पूछ ही तो लिया– ''मित्रा मिस, सब ठीक तो है न ?''

''जी हां।''

''ये क्या हुआ कि एक हाथ से इस्तीफा देना और दूसरे से ले लेना ?''

''एकाएक ही इलाहाबाद चले जाना अनिवार्य हो गया था और फिर एकाएक ही जाना टल गया।''

तुम्हारे फूल को क्या हुआ है? घर में सब ठीक तो है न?''

''घर में आजकल फूल नहीं खिलते।''

''तो यहां के लॉन में तो खिलते ही हैं।''

''जी।''

''मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि मेरे चारों ओर कोई इतना मुरझाया हुआ नजर आए। फूल वालों को देखकर मुझे उनकी जिंदादिली का–प्रकृति से उनके जुड़े होने का एहसास होता है। इस एहसास को बनाए रखो''

''देखो आज माँगेराम ने इस गुलदस्ते के फूल नहीं बदले। कहता है कि उसे फूलों से एलर्जी है। कांटों से किसी को एलर्जी क्यों नहीं होती। फूलों से ही क्यों होती है ?''

ऑफिस से बाहर आते हुए लगा–कोई है जो फूलों को समझता है। पतझड़ हुए पौधे में एक नन्हीं सी कोंपल खिल उठी।

रेस्टोरेंट में एक मेज के पास अकेली बैठी हुई मित्रा दिन के भोजन के नाम पर कुछ ले लेने के बारे में सोच रही है। भूपत किसी शीतल पेय की तलाश में उधर ही आ निकला है हमेशा की तरह।

मित्रा को देखते ही हमेष्ठा की तरह वह एक गज़ल का टुकड़ा गुनगुनाने लगा–

''तूने ये फूल जो जुल्फ़ों में सजा रखा है,
इक दीया है जो अंधेरा में जला रखा है।''

वह मित्रा के दाएं-बाएं देखता है – पर कुछ दिखता नहीं। घूमकर पीछे से चक्कर लगा आता है और चौंकता है– 'अरे मित्रा आज पंद्रह दिनों बाद आई है और फूल भी नहीं लगाया हुआ। आखिर क्यों? यह शोक मनाने जैसी स्थिति क्यों? खैरियत तो है न? घर में सब जिंदा तो हैं न? मुझे अवश्य ही अफसोस प्रकट करने के लिए जाना चाहिए।

दूसरे ही पल वह मित्रा के सामने बैठा कह रहा था– ''मुझे बहुत अफसोस है।''

''क्यों? किस बात का अफसोस?''

''क्या अफसोस का कोई कारण नहीं है ?''

''नहीं।''

''यह तो बहुत अच्छी बात है। तो फिर आप इतने दिन आई क्यों नहीं और आज आपने फूल क्यों नहीं लगाया हुआ?''

''इससे आपको क्या फर्क पड़ता है ?''

''इससे फूलों को फर्क पड़ता है– फूलों की गजल को फर्क पड़ता है। फूल लगाया कीजिए। फूल खिलता है आप पर।''

''आपकी ये बातें सुनकर मुझे एक मुहावरा याद आ रहा है।''

''कौन सा ?''

''मान न मान मैं तेरा मेहमान।''

''फूल लगाने वाले इतने कंटीले होते हैं, मैंने कभी सोचा भी न था। फूलों पर फूले न समाने वाले इतने ज़हरीले होते हैं, मैंने कभी सोचा ही न था।''

''अभी भी सोच ले। देर नहीं हुई है।''

''अब तो देर हो गई है। अब क्या सोचना ?''

''मतलब?''

''मतलब कि लंचब्रेक खत्म हो गई है।'' और वह जैसे एकाएक आया था, एकदम से उठकर चल दिया सोचते हुए– 'कुछ लोग अभागे होते हैं और कुछ सभागे होते हैं। कुछ बोर होते हैं और कुछ खुशीचोर होते हैं।''

और वह उसका जाना देखती रही। भूपत, जिसकी ऊपरी जेब में रूमाल या पैन के बदले खिले गुलाब की अधूरी सी पंखुड़ियां किसी झालर की तरह झांकती रहती हैं। जैसे कि जेब न हुआ फूलदान हुआ। यह फूलदानी-गुलदानी दृश्य देखकर मित्रा को हंसी आ जाती है– 'लो अपने जैसा कोई सनकी फूलों को प्यार करने वाला। एक अजब का विभाव है इस इन्सान में। इसे देखते ही मेरे मन की दशा बदल सी जाती है। पर नहीं। मुझे किसी से प्रेम नहीं करना। मुझे तो केवल विवाह करना है।' वह अपने आप को फैसला सुनाकर उठ खड़ी हुई।

''मैं पिछले कुछ दिनों से देख रही हूँ कि आप जानबूझकर मुझे बदनाम करना चाहते हैं। मेरे लिए नई परेशानी पैदा करना चाहते हैं। रेस्टोरेंट में कितने टेबुल खाली पड़ें हैं। फिर भी आपका इसी मेज के पास आकर बैठना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं। मेरे टाइपराइटर के पास आपका फूल रख जाना भी मुझे कतई पसंद नहीं।''

''कृपया जरा धीरे बोलिए। किसी ने सुन लिया तो मेरी बदनामी हो जाएगी कि मैं लड़कियों का पीछा करता हूँ। इससे मेरी प्रमोशन और तबादले की संभावनाओं पर बुरा असर पड़ेगा। आप तो जानती ही हैं अपने आदर्शवादी बॉस को। क्या फूलों वाली लड़की को मैं चाह सकता हूँ ?''

''मुझे इस तरह का मजाक बिल्कुल पसंद नहीं।''

''मैं मजाक नहीं कर रहा। जो कुछ कह रहा हूँ– पूरी गंभीरता से कह रहा हूँ।''

''मैं प्यार नहीं कर सकती। मुझे तो शादी करनी है। इसलिए मैं प्यार नहीं कर सकती इधर-उधर यूँ ही ऐश के लिए घूमने-फिरने के लिए। प्यार तो ब्लाइंड कर सकते हैं। मैं हर काम करने से पहले बहुत सोचती हूँ। फिकल् माईंड है मेरा। चिंताग्रस्त है मेरा स्वभाव। हर पल भविष्य की चिंता मुझे सताती है। मुझे धनी-मनी, उछलता-कूदता हुआ लड़का नहीं चाहिए। वह चाहिए जिसमें गंभीरता हो, जो मुझे समझे। ऐसा नहीं जो किसी लड़की को देखकर कोई गज़ल गुनगुनाना शुरू कर दे और उसे फूल देने की कोशिश करे।''

भूपत ठहाका लगाकर हंस पड़ा। ''आप ठीक कहती हैं। मुझे भी यह सब अच्छा नहीं लगता है। बस आपका फूल लगाना अच्छा लगता है इसीलिए यह सब हो गया। फिर किसी रिश्ते को बनाने-पाने के लिए कोई न कोई राह तो तलाशनी ही पड़ती है न। और ऐसे में सबसे आसान है फूलों वाला रास्ता। मुझे भी प्रेमिका नहीं पत्नी

चाहिए, जिसे मेरी परवाह हो। पर एक सच मैं आपको आज और अभी ही कह देना चाहता हूँ। उसके बाद ही आप कोई फैसला करें।''

''कौन सा सच ?''

''ज्योतिषी मुझे माँगलिक कहते हैं। इसीलिए कोई मुझे लड़की देना नहीं चाहता। ज्योतिषी भय दिखाते हैं कि लड़की के लिए यह विवाह अशुभ होगा।''

''यह तो बहुत अच्छी बात है। मैं तो सच ही जीना नहीं मरना चाहती हूँ। माँगलिक यानी मंगलजनक-मंगलसूचक। मेरे अमंगल जीवन को ऐसा ही माँगलिक पुरुष चाहिए। तुम्हारे साथ एक सहज जीवन जीते हुए मरना इस असहज-बीमार मरण से तो अच्छा ही होगा। फिर जो पति-पत्नी माँगलिक नहीं होते क्या उनकी मृत्यु नहीं होती? उनके जीवन में कभी कोई हादसा नहीं होता?''

''तो मैं मान लूँ कि आज तुमने मेरी भावनाओं के फूलों को स्वीकार कर लिया है ?''

''मेरी बूआ को पसंद नहीं मेरा फूल लगाना या फूलों को स्वीकार करना।''

''तुम्हें तो पसंद है न? बस इतना ही काफी होना चाहिए। अपनी पसंद का कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। जीवन को यही पसंद है। तुम तो फूलों से प्यार करती हो और क्या यह भी नहीं जानती कि फूल खिलने से कभी नहीं डरते। वे कांटों में, पत्थरों में, रेगिस्तानों में भी एक बार खिल लेते हैं मुरझा जाने से पहले। तुम पुष्प बनो भयभीत पुष्प नहीं। फूलों का डर से कोई रिश्ता नहीं होता।''

बूआ को सामने पाकर मित्रा उनसे कहना चाहती है- 'बूआ, अब तुम्हें सच ही अधिकार है मित्रा पर संदेह करने और डांटने-डपटने का। देखो तो एक फूल मेरे पर्स में छुपा बैठा है हंस रहा है।''

पर बूआ को बिना फूलों वाली इस आज्ञाकारी मित्रा से कोई शिकायत नहीं हो पाती।

अब सवाल यह है कि विवाह की बात शुरू कौन करे? कैसे करे?

यदि मित्रा शुरू करती है या भूपत तो बूआ उस पर थू-थू करेगी कि आखिर फूल लगाने वाली लड़की ने नौकरी के दौरान यह सब किया। अपने सहकर्मी के साथ प्रेम चक्कर चलाया। उनके परिवार की इज्जत पर बट्टा लगाया उनकी लड़कियों को गलत रास्ता दिखाया। उनके घर को हमेशा के लिए मैला कर दिया। उनके उपकार का कैसा बदला चुकाया।

वह बूआ के मन को ऐसी कोई ठेस नहीं पहुंचाना चाहती। उनके अशांत वहमी मन में अपनी तरफ से कोई नई उथल-पुथल नहीं मचाना चाहती।

फिर ऐसी कौन सी तरकीब है जिससे मित्रा का काम भी बन जाए और बूआ का मन भी रह जाए ?

हां, एक राह सुझाई देती है। मुख्य सड़क से सीधे न जाकर, पास की गली से निकलकर बूआ तक पहुंचा जा सकता है और फूलों सी उस खुशी को पाया जा सकता है।

मित्रा ने चिट्ठी लिखी है जो दिल्ली से चलकर इलाहाबाद जा पहुँची है। मामा के पत्र के माध्यम से रिश्ता चलकर बूआ तक आ पहुंचा है जो यह दर्शाता है कि उन्होंने मित्रा के लिए एक रिश्ता ढूंढ़ा है। लड़का दिल्ली का ही रहने वाला है। वे झटपट शादी चाहते हैं कोई माँग नहीं है उनकी, भले लोग हैं।

भले लोग सबको अच्छे लगते हैं इसलिए बूआ भी पढ़-सुनकर खुश होती हैं। फूफा भी प्रसन्न हैं। शुभ दिन देखकर, पत्र में दिए गए पते के आधार पर लड़के वालों के घर जा पहुंचती है बूआ और अपने ज्योतिषी से जन्मकुंडली मिलान तक बात पहुंचाती है। बूआ का ज्योतिषी लड़के की कुंडली के आधार पर ग्रहों का रहस्योद्घाटन करता है- ''लड़का माँगलिक है। लड़की के लिए शुभ नहीं है''

बूआ दो टूक फैसला सुना देती हैं- ''मैं यह पाप नहीं करूँगी। यह शादी नहीं होगी।''

अब क्या हो? अब क्या हो सकता है? बूआ की 'नहीं होगी' को 'होगी' में भला कौन बदल सकता है? जो 'पाप' बूआ नहीं कर सकतीं क्या वह 'पाप' मामा-मामी कर सकते हैं ?

मित्रा छुट्टी लेकर मामा-मामी के पास इलाहाबाद आ पहुंची है। उसके चेहरे पर आंसुओं से लिखी एक इबारत है। मामा वे आंसू नहीं देख-सह पाते। वे मानते हैं भी नहीं वह सब जो बूआ मानती हैं। वे इसे 'पाप' नहीं 'वहम' कहते हैं। उन्होंने मित्रा के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा- ''मैं तुम्हारी शादी करूँगा।'' और सहयोग के लिए मामी की ओर देखा।

एक तार दिल्ली आ पहुंची है। भूपत और उसके माता-पिता को उन्होंने इलाहाबाद बुलवाया है। सारी स्थिति उनके सामने रख दी है। वे सहमत हैं तो फिर देर किस बात की ?

दूल्हे और दुल्हन का नया जोड़ा आ पहुंचा है। पंडित महोदय आ पहुंचे हैं। पांच व्यक्तियों की बारात आ पहुंची है। जिंदगी रिश्तों के नए रंग और फूलों की मालाएं, जय की मालाएं लेकर आ पहुंची है।

बूआ को दो छायाचित्र भेज दिए गए हैं। एक में दूल्हा-दुल्हन साथ-साथ खड़े हैं। दूसरे में भूपत मित्रा की माँग में सिंदूर भर रहा है।

चित्र देखकर फूफा और दोनों बहनें खूब खुश होती हैं। बूआ भी खुश होना चाहती है, पर हो नहीं पातीं। सोते-सोते जागकर रोने लग जाती हैं- ''हाय मित्रा। ये तूने क्या किया? क्या तू हम से इतनी तंग आ गई थी कि अपना भला-बुरा न सोचा? हाय मित्रा के मामा ये पाप तूने क्यों किया? मित्रा बेटी के अनिष्ट के प्रति तेरे मन में कोई डर शंका न आई? कैसे निष्ठुर हो रे तुम।''

चित्रों के पीछे-पीछे मित्रा भी आ पहुंची है, पर अकेली ही। बूआ के मन का क्या भरोसा? पहले वह उन्हें मना-समझा तो ले। अपने दूल्हे के लिए उनके मन में थोड़ी सी जगह तो बना ले।

बूआ मित्रा को छाती से लगाकर जोर-जोर से रोए जा रही है। पता नहीं फिर कभी वह मित्रा को जीवित रूप में देख पाएंगी या नहीं? ''हाय मित्रा। तूने माँगलिक लड़के से विवाह के लिए हां क्यों की? हम तेरे लिए कोई अच्छा लड़का ढूँढ़ते जिसके साथ तू सुखी रहती। हाय। तेरी माँ को हम क्या मुंह दिखाएंगे और क्या जवाब देंगे?''

मित्रा समझाती है - ''बूआ कोई न कोई खतरा तो हर जगह है। मेरे सुख की ही चिंता है न तो मैं बहुत सुखी हूँ। एक कवि जैसा दिल है उसके पास। जिंदगी को समझता है वह और मुझे भी। शांत और ठहरा हुआ स्वभाव है उसका। मुझे यही कुछ तो चाहिए था।।''

बूआ आंसू पोंछ लेती हैं और दूसरी चिंता में फंस जाती हैं- ''तुम्हें नौकरी नहीं छोड़नी चाहिए थी। ऐसी पक्की नौकरी और इतनी अच्छी कम्पनी में नौकरी किसे मिलती है? महीने में दो हजार का नुकसान है तुम्हें। बाद में तनख्वाह और बढ़ जाती। उसकी ट्रांसफर कलकत्ता हो गई है तो तुम यही रह लेती।''

बूआ, तुम लाभ क्यों नहीं देखती? केवल पैसा क्यों देखती हो? तुम मेरी खुशी क्यों नहीं देखती? तुम्हारी मित्रा को एक सच्चा मित्र मिला है। माता-पिता भी मिले हैं। बस, तुम आशीर्वाद दो तो सब कुछ ठीक ही होगा। चाहूँगी तो नौकरी वहां भी मिल जाएगी। हां, अब तो मेरे फूल लगाने से तुम नाराज नहीं होओगी न?''

बूआ के चेहरे की किसी न किसी गिनती में फंसी रेखाएं और रूखे बाल स्नेहसिक्त होकर मुस्कराने लगते हैं और पति को आदेश देते हैं- ''तुम जाकर मित्रा के दूल्हे और उसके माता-पिता को लिवा लाओ। शादी के बाद लड़की का यूं मायके अकेले आना शुभ नहीं होता।''

यूँ एक कहानी पूरी हो गई। मित्रा की खुशी सब की खुशी बन गई। जब भी कहीं आते-जाते उस सड़क से निकलना होता-मित्रा की याद आ जाती। जीवन की उलझनों और भाग-दौड़ में लगभग 18 वर्ष कब गुजर गए पता ही न चला। कोल्हू के बैल जैसी तय दिनचर्या ने न दिनों का पता दिया, न सालों का। बूआ के घर जाने का विचार या उत्साह मन में कभी न जगा। जैसे कि मित्रा के बिना उस घर का कोई अर्थ न हो। कोई सूत्र न हो। वहां जाने की कभी कोई जरूरत भी महसूस न हुई।

फिर एकाएक न जाने क्या हुआ कि मन असंख्य प्रश्नों से घिर गया। अब मित्रा कहां है? कैसी है? क्या करती है? अब क्या सोचती है? उसका वह कविभाव कैसा है? उसके सपने आगे बढ़े या नहीं? कविभाव कहीं अकविभाव तो नहीं बन गया? किससे पूछूँ? कहां ढूंढूँ मित्रा को? क्या बूआ अब भी इसी मकान में रहती हैं? क्या वह मुझे पहचान लेंगी? क्या मेरा वहां जाकर मित्रा के बारे में इतने वर्षों बाद सवाल-जवाब करना उचित है ?

मित्रा की याद ने जिस आवेग के साथ घेरा-उसके सामने कोई आशंका और दुविधा टिक न पाई और एक शाम काम से लौटते हुए गेट को पारकर घर के मुख्य प्रवेश द्वार के सामने जा खड़ी हुई। दरवाजा खुला हुआ था। इसलिए कुछ आगे बढ़कर अंदर झांक लिया। देखा-दाईं ओर के कमरे में फूफा मेज के आगे बैठे कुछ लिख रहे हैं और बूआ कपड़े उठा-रख रही है।

''नमस्कार।''

''नमस्ते-नमस्ते।'' बूआ ने मुस्करा कर उत्साहित किया। मेरी दुविधा और संकोच तिरोहित हुए। फूफा गंभीर और तटस्थ चेहरा

बनाए देखते रहे।

''मैं मित्रा की दोस्त हूँ।'' मैंने बूआ को बताया।

''हाँ-हाँ। मैं पहचान गई हूँ। तुम कभी-कभी यहां आया करती थी।''

''आजकल मित्रा कहां है और कैसी है ?''

''ठीक है। पिछले महीने ही उसके पति का तबादला दिल्ली हो गया है। सिर्फ लड़की ही है।'' बुआ ने बुझे भाव से कहा।

''क्या आप मुझे उसका पता और फोन नम्बर देंगे ?'' उत्तर में फूफा ने एक पुरजा मुझे पकड़ा दिया।

और मैं कई दिन तक सोचती रही-क्या उसके दिल्ली आने और याद के दस्तक देने में कोई तार्किक संबंध है ?

''हैलोऽ । क्या मित्रा बोल रही है ?''

''नहीं। मैं उनकी बिटिया बोल रही हूँ। आप राधा आंटी बोल रही हैं ?''

''नहीं मैं धारा बोल रही हूँ।''

तभी फोन का चोंगा मित्रा ने ले लिया- ''हैलोऽ। कौन ?''

''तुम मित्रा बोल रही हो न। मैं धारा, वसंत विहार से बोल रही हूँ। क्या पहचाना नहीं?''

''मुझे कुछ याद नहीं आ रहा।''

''तुम्हारे घर के सामने वाली सड़क के पार 'जी' ब्लॉक था। तुम्हारा मेरा कभी-कभी आना-जाना होता था। तुम्हारी आवाज मैं पहचान गई हूँ। बिल्कुल वैसी ही दूधिया आवाज़।''

''कुछ और बताओ। याद नहीं आ रहा।''

''मुझे कहानियां पढ़ने का शौक था। जब भी मैं कोई अच्छी कहानी पढ़ती तो तुम्हें भी पढ़वाती थी और फिर उस पर चर्चा किया करते थे।''

''हां-हां। तुम्हारा अकेला कमरा था। उसमें टाइपराइटर था।''

''हां-हां। कैसी हो?''

मैं बहुत खुश हूँ। खूब सैर की है। सारा हिंदुस्तान घूमाँ जगह-जगह ट्रांस्फर होती रही।''

''सुनकर बहुत अच्छा लग रहा है। सदा खुश रहो। तुम्हारी बूआ से बात हुई तो बड़े निराश स्वर में बोलीं कि सिर्फ एक लड़की ही है। क्यों जल्दी ब्रेक लगा दी?''

''बस ऐसे ही। कुछ लोग एक से ही खुश हो जाते हैं उसी से पूरी खुशी पा लेते हैं।''

''क्या उम्र होगी?''

''इसी साल हाई स्कूल की परीक्षा दी है।''

''तुमसे मिलकर बहुत सी बातें करने की इच्छा होती है।''

''पर अब तो मैं बहुत कम बातें करती हूँ।'' मुस्कान में लिपटा एक वाक्य।

उसके लहजे से लगा जैसे वह अतीत को याद नहीं करना चाहती है और वर्तमान के मोती को अपने अंतस की सीप में संजो-छिपाकर रखना चाहती है।

- सिम्मी हर्षिता

के-24, लाजपत नगर-II, नई दिल्ली-110024

– डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण

एक होली : सात समन्दर पार

त्रिनिदाद व टुबैगो

कभी-कभी यह विश्वास ही नहीं होता है कि भारत से हजारों मील दूर कहीं कोई देश भारत जैसा भी हो सकता है। ट्रिनीडाड आकर एक क्षण को कुछ ऐसा ही लगता है जैसे हम केरल की हरियाली से निकल कर गोवा के समुद्र तट की सुनहली रेत पर चहल कदमी कर रहे हों। ट्रिनीडाड और टुबैगो, दो द्वीपों का एक देश है जो पश्चिमी गोलार्द्ध में दक्षिण अमेरिका के देश वेनेजुएला के बिल्कुल पास कैरीबियन सागर की उन्ताल लहरों में इठलाता-झूमता है। एक ऐसा सदाबहार देश जिसे प्रकृति ने भरपूर नैसर्गिक सौन्दर्य दिया है और जिसके कारण यहां आने वाला हर व्यक्ति मंत्र-मुग्ध होकर इसके प्रेम-पाश में बंध जाता है।

लेकिन यह कहना कि इसका सौंदर्य इसके प्राकृतिक परिवेश के कारण है, पूरा सच नहीं है, क्योंकि इसे खूबसूरत बनाने का श्रेय तो यहाँ रहने वाले विभिन्न धर्मों एवं जातियों के लोगों और उनकी सांस्कृतिक विविधता को जाता है। यही सांस्कृतिक विविधता ट्रिनीडाड को 'इन्द्रधनुषी संस्कृति' का देश बनाती है।

ट्रिनीडाड की इस 'इन्द्रधनुषी संस्कृति' का सबसे गहरा और चटक रंग भारतीय संस्कृति का है जिसे यहां तक लाने का श्रेय उन साहसी भारतीय श्रमिकों को जाता है जो आज से 150 वर्ष पहले अंग्रेजी सरकार द्वारा शर्तबन्दी प्रथा के अन्तर्गत गन्ने के खेतों में काम करने के लिए भेजे गये थे। इनमें से अधिकांश श्रमिक पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार प्रान्त से गये थे और उन्हीं कर्मठ किसानों की संतानें आज भी अपनी उस सांस्कृतिक विरासत को पूरी तरह से बचाये हुए हैं जो उनके पुरखे भारत से सात समन्दर पार तक ले आए थे।

इनकी इस सांस्कृतिक विरासत की एक मनोहारी झलक ट्रिनीडाड में मनाई जाने वाली होली में देखी जा सकती है जिसे ये लोग 'फगवा' कहते हैं। होली का त्यौहार फागुन के महीने में आता है इसलिए आज भी पूर्वी भारत में 'फगुआ' शब्द का प्रयोग मिलता है। यही 'फगुआ' ट्रिनीडाड में 'फगवा' हो गया है।

यहां एक मजेदार तथ्य भी जान लेना जरूरी है। ट्रिनीडाड में होली उसी दिन मनाई जाये, जिस दिन वह भारत में मनाई जाती है, यह जरूरी नहीं है, क्योंकि ट्रिनीडाड में होली के लिए कोई राष्ट्रीय अवकाश नहीं है। अत: यहां होली के एकदम करीब पड़ने वाले रविवार को ही होली मनाने की परंपरा है।

यों तो फगवा पूरे ट्रिनीडाड में ही मनाया जाता है लेकिन ट्रिनीडाड के मध्य एवं दक्षिण भाग में भारतवंशियों की संख्या सर्वाधिक होने के कारण इन क्षेत्रों में फगवा का उत्साह पूरे यौवन पर होता है।

ट्रिनीडाड के एकदम दक्षिण में 'देवे', 'पीनाल', 'सिपरिया', 'फैज़ाबाद' जैसे अनेक गाँव हैं जहाँ फागुन आते ही मंदिरों और घर के बाहर बनी 'बैठकों' में हर शाम 'चौताल' के स्वर गूंजने लगते हैं। ट्रिनीडाड में 'फगवा' मनाने का अन्दाज ही कुछ अलग है। हमारे भारत में जिस तरह होली आने से पहले ही रंगों की पिचकारियाँ चलने लगती हैं ऐसा ट्रिनीडाड में नहीं होता है। पर हां, लगभग एक दो सप्ताह पहले से ही फगवा से जुड़े लोकगीतों के गायन की प्रतियोगिताएं होने लगती हैं जिन्हें यहां 'चौताल सिंगिंग' कहा जाता है। हारमोनियम, मंजीरा, धनताल और ढोलक की थाप पर अपार जन-समूह झूमते हुए गाते हैं- 'आज अवध में होली खेले रे रघुवीरा' या फिर 'अरे होली खेलत पवन कुमार अंजनी के वारे।'

ट्रिनीडाड में होली की पूर्व संध्या पर होलिका दहन का अनुष्ठान भी बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। गाँव-गाँव घूमकर बालक, युवक, युवतियां एवं वृद्धजन भी सूखी घास और लकड़ियाँ इकट्ठी करके एक छोटा सा पहाड़ ही लगा देते हैं। शाम होने पर गाँव व आस-पास के निवासी होलिका पूजन के लिए एकत्रित होने लगते हैं। चौताल के ऊँचे स्वर गूंजने लगते हैं और गाँव के पुरोहित विधिवत् मंत्रोच्चार के बीच होलिका दहन के लिए अग्नि प्रज्ज्वलित करते हैं। क्षणभर में ही आग की विशाल लपटें आकाश की ओर

उठने लगती हैं। सभी लोग गाते हुए चारों ओर घूमकर परिक्रमा करते हैं और उसके बाद सामूहिक भोज होता है।

होलिका दहन की अगली सुबह से ही लोग होलिका की राख मल कर रंग खेलने के लिए गलियों, सड़कों और मैदानों में निकल पड़ते हैं। ट्रिनीडाड के मध्य भाग में स्थित 'शगुआनस', 'एडिनबर्ग', 'केली फोर्निया', 'कूवा' के मैदानों में और उत्तर भाग में स्थित 'ओरंगवेज सवाना' में सुबह से ही जन मण्डलियां इकट्ठी होने लगती हैं। अपनी-अपनी कारों, ट्रकों या पिक-अप वैनों में भरे लोग इन विभिन्न मैदानों की ओर उमड़ने लगते हैं। इस अवसर पर सामान्यत: सभी लोग सफेद कुर्ता, धोती या पाजामा पहनते हैं। कुछ लोग सिर पर कपड़े की टोपी या रंगीन चमकदार कागजों से बना मुकुट भी पहनते हैं। प्रत्येक मण्डली के आगे दो लोग उस मण्डली के नाम को दर्शाने वाले बैनर लेकर चलते हैं। उसके बाद होते हैं वादक मण्डली के लोग जो झाल-मंजीरा, धनताल, हारमोनियम व ढोलक बजाते चलते हैं। बाकी के लोग तालियां बजाते हुए नाचते चलते हैं। जो मण्डली चौताल सिंगिंग प्रतियोगिता में विजयी होती है उन्हें तरह-तरह के उपहार और ट्राफियां प्रदान की जाती हैं।

कुछ लोगों के पास भारत की बनी पिचकारियां भी होती हैं लेकिन अधिकांश लोगों के पास रंग-भरी प्लास्टिक की बोतलें होती हैं क्योंकि यहां पिचकारी मिलना बहुत आसान नहीं है। इन्हीं बोतलों के ढक्कनों में छेद करके ये लोग रंग छिड़कते हैं। यहां गुलाल भी नहीं मिलता है। अत: गुलाल के स्थान पर 'बेबी जान्सन टैल्कम पाउडर' का प्रयोग किया जाने लगा है।

भारत में होली के अवसर पर भांग या ठंडाई पीने-पिलाने की परम्परा है लेकिन ट्रिनीडाड में भांग या ठंडाई बनाने के लिए अपेक्षित सामग्री नहीं मिल पाती है। अत: यहां के लोग इस अवसर पर अदरक डाल कर उबाला गया गरम-गरम दूध पीते-पिलाते हैं, जिसमें कुछ लोग अपनी रूचि के अनुसार 'टी बैग' डालकर चाय का मजा भी ले लेते हैं। दूध के साथ ही खाने को मिलती है कचौड़ी, सहीना, गुलाब जामुन जैसे व्यंजन जिन्हें स्थानीय तरीके से तैयार किया जाता है।

आजकल फगवा उत्सव मनाने के तौर-तरीकों में कुछ नयी चीजें भी जुड़ रही हैं। ट्रिनीडाड की एक प्रसिद्ध संस्था ने फगवा के अवसर पर कई प्रकार की मनोरंजक प्रतियोगिताएं भी आयोजित करना शुरू किया है जिसमें हमारे महाराष्ट्र की तरह की 'माखन चोर' प्रतियोगिता भी शामिल हैं। इस प्रतियोगिता में काफी ऊँची लटकी 'मटकी' को एक टीम के सदस्य एक दूसरे के कन्धों पर चढ़कर उतारने की कोशिश करते हैं।

फगवा के अवसर पर ट्रिनीडाड के प्रमुख अखबार अपने-अपने 'स्पेशल सप्लीमेंट' निकालते हैं जिनमें 'फगवा' के बारे में सचित्र जानकारी होती है। रेडियो और ट्रिनीडाड के टेलीविजन चैनल भी अपने-अपने विशिष्ट कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं।

ट्रिनीडाड की होली की एक विशेषता यह भी है कि इसमें आंतरिक अनुशासन और गांभीर्य देखने को मिलता है। भारत में खेली जाने वाली होली की उद्‌दाम उन्मुक्तता के स्थान पर हार्दिक उल्लास की लयात्मकता के दर्शन होते हैं। तासा और ढोलक की तेज थाप के साथ गूंजते लोकगीतों की लय पर नाचते, थिरकते लोगों को देखने का भी अपना अलग आनंद है।

कुल मिलाकर ट्रिनीडाड की हरी-भरी धरती पर अबीर के रंग में रंगे फगवा मनाते लोगों के झुंड के झुंड जब नाचते-गाते दिखाई देते हैं तो भारतीय संस्कृति की सात समंदर पार तक फैली गहरी जड़ों की विशालता का अहसास सहज ही होने लगता है।

- डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण
टोक्यो यूनिवर्सिटी ऑव फॉरेन स्ट्डीज़, टोक्यो, जापान

आपका पत्र मिला

संस्कृति का समकालीन विमर्श

यह लेख संस्कृति के पिछले अंक (मार्च 2005) की प्रतिक्रियास्वरुप लिखा गया है जो बकौल लेखक..... 'वाद विस्तार भी है और प्रतिवाद भी है.....'

– सम्पादक

हमें गर्व होता है यह देख और जान कर कि पश्चिम की रुचि भारतीय कला और संस्कृति में लगातार बढ़ी है और यह बात तो और भी आश्वस्त करती है कि पश्चिम का नजरिया और रवैया अब हमारे प्रति औपनिवेशिक दौर वाला नहीं रह गया है– हमें दोयम, हीन, अविकसित या दयनीय न मानकर अब इस नये उत्तर औपनिवेशिक उदारीकृत दौर में थोड़ी गम्भीरता से लिया जा रहा है यह दबाव इसलिये भी पड़ा है क्योंकि 'विश्व के हर छठवें व्यक्ति के भारतीय मूल का' होने की वजह से भारतीय कला और संस्कृति की अनदेखी करना न संभव है, न उचित। (देखें मोहिनी हिंगोरानी, संपादकीय, 'संस्कृति'– मार्च– 2005) तथापि यहां जो सवाल हमारे सामने उपस्थित होता है वह यह है कि कहीं इसकी बुनियादी वजह उपभोक्तावाद का वह दबाव तो नहीं, जिसके तहत संस्कृति के उत्पादित रूपों की खपत बिना 'स्थानीय रंगत' के संभव ही नहीं होती। भूमंडलीकरण के बड़े चिंतक इसलिये आज 'ग्लोबल इज़ लोकल' का नया नारा ईजाद करते भी दिखायी दे रहे हैं। आज हम जिस दौर से गुजर रहे हैं, वह कला संस्कृति के प्रति गंभीर दिलस्पियों का दौर नहीं, उसके उत्पादित–मुद्रित, प्रसारणीय, प्रदर्शनमूलक, फैशन एवं ग्लैमर वाले –रूपों के विकास का, उनके लिये नये बाजार और मंडियों की तलाश का दौर है, जिसके तहत कला और संस्कृति प्रायोजित मेलों, उत्सवों, कलादीर्घाओं, जनसंपर्क–मुहिमों और पुरस्कार–वितरण जैसे नये कर्मकाण्डों द्वारा फैलायी जाने वाली और विज्ञापनों द्वारा जन–मनोविज्ञान के तहत स्वीकृत करवाये जाने वाली वस्तु होती जा रही है। कला और संस्कृति में इस बाजारवादी–उपभोक्तावादी कमी को हम इसके वास्तविक विकास का पर्याय नहीं मान सकते।

लोकप्रियता या विस्तार हमेशा ही विकास के लक्षण नहीं होते। अत: कला संस्कृति के असल विकास के क्षेत्र की तलाश में हमें संस्कृति अथवा लोक–संस्कृति की ओर रुख करना पड़ता है। भारत जैसे पूर्व–उपनिवेशों सहित, करीब–करीब पूरी तीसरी दुनिया में कला और संस्कृति पर आधारित बुनियादी जातीय पहचान की जमीन आज जितनी संकटग्रस्त है, उतनी पहले कभी नहीं थी। औपनिवेशिक दौर में यह सांस्कृतिक जातीय पहचान (अस्मिता या आयडेंटिटी) आत्मरक्षात्मक (डिफेंसिव) थी, अत: वह अपनी हीनता से उबरने के लिये अतीत का आक्रामक तरीके से आदर्शीकरण (आयडियलाईज़ेशन) करती थी, या पुनरुत्थानवादी हो जाती थी।

औपनिवेशिक दौर के हमारे संस्कृति–विमर्श के दो रूप हैं। एक है– हमारा राष्ट्रवादी, औपनिवेशिकताविरोधी और अतीत के पुनरुत्थान से जुड़ा प्रतिरोधक या आत्मरक्षात्मक विमर्श– जिसका मकसद यह था कि हम वर्तमान की हीनता और दयनीयता से उबरने के लिये अपने अतीत की महानता को आधार बनाते थे और दूसरा था औपनिवेशिक–साम्राज्यवादी नजरिया, जो यह तो स्वीकार करता था कि हमारा अतीत महान है, परन्तु वह इसी तर्क से हमारे वर्तमान की हीनता के सामने उसे और उभारने के लिये उलट देता था– यह कहता हुआ कि अतीत में तो यहां बहुत कुछ था, परन्तु आज यहां कुछ नहीं रहा, कि हम महानता से भ्रष्ट हो चुकी जाति हैं।

यहां इन दोनों नजरियों को समझना इसलिये जरूरी है, ताकि हम उत्तर औपनिवेशिक दौर की, आज की पश्चिम द्वारा आंशिक स्वीकृति की तह में जा सकें।

आज हम देखते हैं कि पश्चिमी दुनियां में भी हिन्दी की पत्रिकाएं निकल रही हैं और हमारी कला और संस्कृति वहां नये अर्थ में विचारणीय और पुनर्विचारणीय हो रही है। इसका आधार हमारे सामने स्पष्ट हो जाना चाहिए। आधार है प्रवासी जन समुदाय। यह औपनिवेशिक दौर की विरासत है जो उत्तर औपनिवेशिक दौर में पश्चिम में फलने–फूलने लगी है। अब इसे उपेक्षित किये रखना संभव नहीं रह गया है।

लेकिन पश्चिमी दुनिया में भारतीय कला और संस्कृति के प्रति वही औपनिवेशिक नजरिया बदस्तूर जारी है, जिसके तहत हमारे अतीत को ही महत्वपूर्ण और विचारणीय माना जाता है।

हम भारतीय भी इस औपनिवेशिक नजरिये से बुरी तरह आक्रांत हैं। हममें से ज्यादातर लोग यह मानते हैं कि अतीत में हम महान थे, हमने महान 'सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों' को खोजा था जो 'देशकाल की सीमाओं को लांघ कर आज भी सत्य बने' हुए हैं। हमारे ऐसे सांस्कृतिक मूल्यों में 'दया, करुणा, अहिंसा, अपरिग्रह' आदि को रखा जा सकता है और इन्हीं मूल्यों से हमारी संस्कृति अपनी मूल जातीय पहचान को पाती है। (देखें, 'संस्कृति' मार्च–2005, पृ. 1–2) इस संदर्भ में मेरा मानना यह है कि सार्वभौमिक से तात्कालिक को अलहदा करके हम सार्वभौमिक के विकास के रास्ते ही बंद किया करते हैं। अगर हम यही नहीं देख पाते कि महान से महान मानवीय मूल्य या व्यवहार भी कर्म या आचरण के द्वारा मूर्त–ठोस रूप पाकर आगे विकास किया करते हैं और उन्हीं की मार्फत दरअसल हम उनके सार को पुन:–पुन: उद्घाटित किया करते हैं– तो यह अतीत को वर्तमान के सिर पर ला बैठाना होगा। अतीत जब तक वर्तमान के गर्भ से सदा एक नवजात शिशु सा ताजा और पवित्र होकर निरंतर जन्म नहीं लेता रहेगा, तब तक उसकी सारी महानता, सारी सार्वभौमिकता, अकादमिक महत्व की चीज से ज्यादा कुछ नहीं।

भारतीय कला और संस्कृति के समकालीन परिदृश्य की इस कसौटी पर पुनरपरीक्षा यहां प्रासंगिक होगी।

कला, साहित्य और अन्य विविध सांस्कृतिक रूपों के तहत धर्म–अध्यात्म तथा मीडिया आदि को समेटते हुए हम एक विहंगावलोकी जायजा लेना चाहें तो कुछ बातों पर हमारा ध्यान अटक सकता है। पहली बात है–कला और संस्कृति में 'भारतीय' या हमारी अपनी जातीय छवि के नाम पर अध्यात्म और अथवा उसका अभ्यास पैदा करने वाली अनुभूतियों पर जोर और दूसरी बात है– अपनी हीनता, दयनीयता से जुड़ने या उससे उबरने के लिये अपनी गरीबी, निराशा, कुंठा और यहां तक कि अपनी विद्रोहमूलक अराजक

प्रवृत्तियों या प्रतिरोधों का चित्रण-जिसे हम अपनी वास्तविकता, यथार्थ या जमीन का नाम भी देते हैं। आप देख सकते हैं कि इन दोनों मुख्य प्रवृत्तियों का ताल्लुक हमारे औपनिवेशिक नजरिये के साथ कितना गहरा है। एक में है- अतीत की महानता या सार्वभौमिकता में लौटने का प्रयास और दूसरे में है, अपने वर्तमान की हीनता या भ्रष्टता की अभिव्यक्ति। फिर एक तीसरी बात भी दिखायी देती है, जिसका ताल्लुक बाजार के साथ, फैशन और ग्लेमर के साथ है, जिसके तहत हम इन दोनों मुख्य प्रवृत्तियों के अंकन के अंतर्गत नग्नता, आत्म-उपहास, व्यंग्यमय बौद्धिक चुस्ती आदि के लिये जगह निकाल लेते हैं। एम.एफ. हुसैन के देवियों के न्यूड्स या गरीब युवा आदिवासी महिलाओं के चित्र आदि इसी कोटि में आते हैं। 'संस्कृति मार्च-05' के मुख पृष्ठ पर और आखिरी पृष्ठ पर जो दो चित्र छापे गये हैं, उनमें अध्यात्म का समकालीन-रूप, दरअसल मध्यकालीन तंत्र-बद्ध रूप ही अधिक लगता है। प्रस्तुति के नयेपन के बावजूद अंतर्वस्तु के तल पर हम अतीत की महानता या सार्वभौमिकता पर इस कदर आश्रित हैं कि नया विकास इस रूप में संभव नहीं हो पाता कि वह रूप के नयेपन के साथ-साथ अंतर्वस्तु का नयापन भी बन सके और अगर वह अंतर्वस्तु का नयापन बनने में समर्थ कला हो तो वह फिर सब के नयेपन के लिये पश्चिम-जैसी होने या दिखने की बजाय विशुद्ध भारतीय परंपराओं के भीतर से नयी होती हुई और इसीलिये जन सामान्य तक को संवेदित करती हुई दिखायी देने लगेगी।

लेकिन औपनिवेशिकता से मुक्ति भी क्या इतनी सहज और सरल वस्तु है कि कला और संस्कृति उसे वास्तविक सामाजिक रूपांतर के अभाव में, पूर्व-व्यंजना देने में समर्थ हो सकती है?

निश्चय, कला और संस्कृति के बहाने से मैं यहां व्यापक सामाजिक रूपांतर की, एक नये विश्व की ही एक परिकल्पना के साथ साहसपूर्वक खड़े होने का प्रयास कर रहा हूँ। मैं नहीं समझता कि इस उत्तरऔपनिवेशिकता का मुकाबला हम उसके भूमंडलीकरण उपभोक्ताकरण, बाजारीकरण आदि के एजेंडे को केवल लफजी अकादमिक बहसों के द्वारा कभी भी निरस्त कर पायेंगे। इसके बजाय हमें तलाशना होगा, वह रास्ता, जो हमें इस नयी दुनिया के संकटों और चुनौतियों के बजाय एक मानवीय विकल्प प्रस्तुत करने में मदद करें। मसलन, अगर भारतीयता के नाम पर हमारे पास सार्वभौमिक मानवीय मूल्य चेतना है तो हमें देखना होगा कि हमारा अपरिग्रह किस नये रूप में उपभोक्तावादी सुविधा भोग से जुड़ी पतनशीलता से उबारता है। अपरिग्रही होने का मध्यकालीन या तंत्र-समर्थित तरीका अब हमारे काम नहीं आयेगा। भिक्षा-पात्र लिये अब कोई अवतार नया-जन्म (पुनर्जन्म) पाने में सफल नहीं होगा। संभव है नया नायक, नया अपरिग्रही अवतार टी.वी. के फैशन-चैनल के सामने बैठा हुआ अविकारी-साक्षी व्यक्तित्व हो अथवा सरप्लस उत्पादनवाले दौर के प्रतीक की तरह कपड़ों से लदा-फदा गांधी हो जो गरीबों में उस 'सरप्लस' को वितरित करने का माध्यम बन पा रहा हो। अहिंसा के नये रूप निश्चय ही उत्तरऔपनिवेशिक दौर में आत्मघाती (उपवासमूलक) आत्म-साक्षात्कार का पर्याय नहीं हो सकते। परन्तु अंतर विकास की प्रक्रियाएं सदा ही जन रूपांतर की जमीन पर खड़ी होती हैं- उन्हीं को कला और संस्कृति संबंधी हमारी तमाम चर्चाओं का आधार होना चाहिए।

विनोद शाही, 813/7 हाऊसिंग बोर्ड कालोनी, जी.टी.बी. नगर, जालन्धर शहर-144003

संस्कृति पत्रिका का नवीनतम अंक निश्चित रुप से हमारी समृद्ध और विविधतापूर्ण सांस्कृतिक विरासत को अभिव्यक्त करता है।

श्याम सरन, विदेश सचिव, विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली-110011

अमृता शेरगिल के बनाये गये मूल कला चित्र के पोस्टर को देखकर बड़ा आनंद आया। इसी बहाने भारत से बाहर बसे भारतवासियों को भारत की सांस्कृतिक धरोहर से अवगत ही नहीं कराया अपितु उनकी भावनाओं को भारत का सामीप्य प्रदान किया है। एक अच्छी बात यह भी है कि संस्कृति ने पहली बार भारतवंशी डियास्पोरा को भारतीय वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में भारत की विस्तृत कला, परम्परा, संस्कृतियां और उनके मूल्य और मान्यताओं को अभिव्यक्त कर सचेत किया है।

डा० मोहनकान्त गौतम, यूरोप हिंदी समिति, वेन लंदन बांच स्ट्रीट-8,2334 एट-लंदन (नीदरलैण्ड्स)

मुझे वास्तव में अमृता शेरगिल का चित्र पसंद आया जिसमें दुल्हन को धार्मिक अनुष्ठानों के अनुरुप सजाते हुए चित्रित किया गया है।

जोनाथन वुटावुनाशे, भारत में रिपब्लिक ऑव जिम्बाब्वे के राजदूत

इस अंक की विषय-वस्तु और उसमें प्रचानी मंदिरों के पुरातन प्रतीकात्मक चित्र बहुत ही उम्दा, सूचनाप्रद हैं जिनमें भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयामों को बहुत ही अध्ययनशील ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

श्री फलाब्यिा गुईमरेइस, काउन्सलर, एम्बेसी ऑव ब्राजील, नई दिल्ली

संस्कृति का मार्च अंक सुंदर, साफ सुथरा और संग्रहणीय है। इस पत्रिका को त्रैमासिक बनाने पर मंत्रालय विचार करे। कलेवर भी थोड़ा बढ़े तो अच्छा, कुछ गीत, कविताएँ और कहानियाँ भी रहें। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के प्रसिद्व लेखकों की रचनाएँ प्राप्त कर पत्रिका के हर अंक को संग्रहणीय बनाने का प्रयास किया जा सकता है।

रीना पाण्डेय, भारत का प्रधान कौंसल, इस्तानबुल, टर्की

मुझे पत्रिका सूचनाप्रद लगी और अमृता शेरगिल के मूल चित्र को प्रस्तुत करने के लिए आपकी प्रशंसा करता हूँ।

दरागोवेस्ट गोरानवो, एम्बेसडर रिपब्लिक ऑव बुल्गारिया

वस्तुत: संस्कृति मंत्रालय द्वारा प्रकाशित इस पत्रिका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अफसरी गंध प्राय: नहीं है - बहुत ही साफ-सुथरी, दुराग्रहरहित एवं प्रामाणिक प्रस्तुति है। इस दृष्टि से आप और आपके सारे सहयोगी विशेष बधाई के पात्र हैं। आवरण, मुद्रण, चित्र-योजना, कागजबंधाई, सभी स्तरीय हैं। मुख्य आवरण और अंतिम आवरण

दोनों पर ही एक ही चित्रकार जी.आर.संतोष के शीर्षक रहित चित्र हैं, जिनमें दर्शकों एवं कलाचित्रकों को ढेर-सारी संभावनाएं दिखेंगी।

डॉ० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पूर्व सांसद/पूर्व कुलपति, एम 2/11, डॉ0 मुरलीधर श्रीवास्तव पथ, राजेन्द्र नगर, पटना-800016

भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत संस्कृति की प्रशंसा शब्दों में अव्यक्त है।

डॉ० (श्रीमती) राजलक्ष्मी शिवहरे, सी-13, एच.आई.जी, (ड्यूप्लेक्स) धनवन्तरी नगर, जबलपुर (संस्कृति मंत्रालय की हिन्दी सलाहकार समिति की सदस्या)

अमृता शेरगिल के एक चित्र को आपने पोस्टर में तब्दील कर लोगों तक पहुँचाया इसके लिए आपको साधुवाद देता हूँ।

श्री कन्हैयालाल नंदन, 132 कैलाश हिल्स, नई दिल्ली-110065

अंक बहुत ही सुरुचिपूर्ण ढंग से निकला है जिसमें बहुत सी महत्वपूर्ण सामग्री है खासतौर पर अमृता शेरगिल के मूल कलाचित्र की पोस्टर प्रस्तुति अभिनव है। इससे अंक संग्रहणीय हो गया है।

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय, निदेशक भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, पोस्ट बॉक्स नं0 3113, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110003

इसकी सामग्री गंभीर होते हुए भी बोरियत से मुक्त है। ऐसी चित्ताकर्षक पत्रिका निकालने के लिये हार्दिक बधाई और इसकी दीर्घायु के लिये शुभकामनाएं

श्री सुरेश पंडित, लेखक एवं समाजकर्मी, 383, स्कीम नं0-2 लाजपत नगर, अलवर-301001

आवरण और भीतर के चित्र निश्चय ही सम्मोहक हैं और भारतीय-मन लिए हुए भी। उनकी दार्शनिकता और रुपायन बेचैनी पैदा करते हैं - अमृता शेरगिल का कलात्मक चित्र (पोस्टर) मेरे चित्र-संग्रह की शोभा बन गया है।

श्री प्रताप सिंह, 337 प्रकाश गंज, तेलीवाड़ा, दिल्ली

पत्रिका अत्यंत सुरुचिसंपन्न और ज्ञानप्रद विषय-वस्तुओं से युक्त है। इसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी की प्रतिनिधि पत्रिका बनाने का आपका शुभसंकल्प सफल हो,

डॉ० राजन नरायण पिल्लै, 16, रामकुंज, आर.के. विद्या रोड, दादर (वेस्ट), मुम्बई 400028

अमृता शेरगिल के मूल कलाचित्र की पोस्टर प्रस्तुति नि:संदेह संजोकर रखने योग्य एक उपहार है, अंक के रचनाकारों के रुप में जहाँ अपने-अपने क्षेत्रों के ज्ञाता, अधिकारी विद्वान पत्रिका में उपस्थित हैं, वहीं हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के कई जाने-माने नामों को अहमियत देकर प्रकाशित किया गया है, इन रचनाधर्मियों की उपस्थिति ने पत्रिका को प्रभावी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, बड़ी मेहनत और योजनाबद्ध तरीके से निकाली गई इतनी अच्छी पत्रिका से परिचित कराने के लिए आपका बहुत-बहुत धन्यवाद।

डॉ० प्रेम कुमार, रीडर हिंदी प्रभाग, अशोक भवन, मानसिंह गेट, अलीगढ़-202001

इस पत्रिका में भारत के विविध संस्कृतियों से संबंधित विषयों को अधिक से अधिक प्रकाशित करने के साथ ही साथ इसे शोध पत्रिका का आधार प्रदान किया जाये ताकि इस पत्रिका को शोधकर्ता द्वारा अध्ययन का आधार बनाया जा सके।

डॉ० ब्रजेश कुमार, निदेशक, सारिपुत्र स्मृति संग्रहालय

मनमोहक कलेवर तथा भिन्न-भिन्न भाषा और संस्कृति से परिपूर्ण पत्रिका को पढ़कर मन बहुत प्रसन्न हुआ। प्रत्येक रचनाओं के साथ चित्रों का प्रदर्शन एक नयी ताजगी का आभास कराता है। अमृता शेरगिल के द्वारा बनाये गये मूल कलाचित्र का पोस्टर भी भावपूर्ण रहा। वैसे अमृता शेरगिल के बनाए गये चित्रों से मैं पहले से ही प्रभावित रही हूँ।

सुरभि बेहेरा, कृषि फार्म कॉलोनी, रंगाढिपा, सुन्दरगढ़-770009, उड़ीसा

भारतीय संस्कृति का स्वरुप विश्वव्यापी है, वैविध्य पूर्ण भी। लगभग सौ से अधिक देशों में आज अप्रवासी/भारतीय मूल के लोग बिखरे हुए हैं। उन्हें भारतीय संस्कृति तथा संस्कारों से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य यह पत्रिका आसानी से कर सकती है।

हिमांशु जोशी, 7/सी-2, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091

संस्कृति पत्रिका में सामग्री साज-सज्जा हर दृष्टि से बहुत अच्छी छपी है। ऐसी पत्रिका की आवश्यकता बहुत दिनों से थी जिसे आपने पूरा कर दिया। पत्रिका संस्कृति की पहचान कराने वाली स्तरीय है।

प्रो० माजदा असद, पूर्व अधयक्ष, हिंदी प्रभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली

पिछले काफी समय से यह धारणा रही है कि साहित्य, संस्कृति और कला को लेकर सारे सरकारी प्रयास हस्तक्षेप की तरह होते हैं, हालाँकि यह धारणा अकारण नहीं है लेकिन जिस उत्साह से इस धारणा को विकसित किया गया उससे कला, संस्कृति और साहित्य के प्रति अवज्ञा या उपेक्षा की धारणा को भी बल मिला साहित्य में नये-पुराने कलाकारों

और विशेषकर भारतीय संदर्भ में उनकी कला और सोच से साक्षात्कार अनूठा और भिन्न अनुभव हैं, ऐसे समय में जब, ज्यादातर पत्र-पत्रिकाओं में इतिहास, कला और संस्कृति के लिए जगह तंग की जा रही है, संस्कृति पत्रिका का इस तरह संस्कृति पर केन्द्रित होना एक सुखद अचरज और शुभ संकेत कहा जाएगा।

श्री भालचन्द्र जोशी, 'एनी' 13 एच.आई.जी.हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, जैतापुर, खरगोन 451001 (मध्य प्रदेश)

इस अंक में अमृता शेरगिल की कला कृति का बहुत सुंदर पोस्टर लगा हुआ है। यह अमूल्य धरोहर है। इस अंक की रचनाएँ बहुत अच्छी हैं। हमारी सांस्कृतिक विरासत के विभिन्न पक्षों को उजागर करना बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। इसे इस पत्रिका के माध्यम से भली प्रकार किया जा रहा है।

श्री महीप सिंह, एच 108, शिवाजी पार्क (पंजाबी बाग), नई दिल्ली-110026

संस्कृति के संयुक्तांक 8-9 को सर्वथा एक नये तथा मनमोहक रुप-रंग में पाकर अत्यंत प्रसन्नता हुई। इस अंक से इस विश्वास को भी बल मिला है कि संस्कृति के आगामी अंक अंर्तवस्तु तथा प्रस्तुति की दृष्टि से और भी उल्लेखनीय सिद्ध होंगे। निश्चित ही इस प्रशंसनीय परिवर्तन का श्रेय आपको जाता है।

श्री श्रवणकुमार गोस्वामी, ''आश्रय'' नयी नगड़ा टोली, चौथी गली (पूरब), राँची-834001

बुद्ध शीर्ष

मुद्रक : ग्लोबल बुक्स आर्गनाइज़ेशन, दिल्ली

पृष्ठ सज्जा : यूथ ग्राफिक्स, दिल्ली

उत्तर प्रदेश संवर्ग के 1969 बैच की आई. ए. एस. अधिकारी श्रीमती नीना रंजन के भीतर एक कुशल प्रशासक के साथ-साथ एक सुकोमल कलाकार भी बसता है जो अपनी अति व्यस्त दिनचर्या में से कभी कभार मिलने वाले खाली समय में कूची को रंगों में डुबो कर चित्रकार बन जाता है, कभी सिद्धेश्वरी देवी की सुपुत्री सविता देवी जी से सीखे शास्त्रीय संगीत के सुरों में गुनगुनाता है। उन्हीं के शब्दों में:- ''जब मैं पेंट करती हूँ या गाती हूँ तो लगता है जैसे मैं ध्यान में हूँ।'' क्लाउस ओल्डनबर्ग की तरह वे भी मानती हैं कि "Painting is a means of enlightenment"

श्रीमती नीना रंजन पिछले कुछ वर्षों से कृष्ण के विश्व रुप दर्शन से सम्बंधित पेंटिंग्स पर शोधकार्य कर रहीं हैं।

दफ्तर के काम, घर और सामाजिक दायित्वों की व्यस्तता के बीच 'स्वान्तः सुखाय' बनाई गई इनकी चित्रकृतियां संख्या में कम हैं तथा इनके बीच अंतराल भी काफी लंबा हो जाता है। यहां प्रस्तुत चित्रकृति को प्रकाशित करने की अनुमति उन्होंने बहुत संकोच से दी। इसका शीर्षक है: ''अनन्त शक्ति'' (Eternal Devi) जो सृष्टि में व्याप्त परमसत्ता की अनन्तता, चिरन्तनता और नित्यता की अभिव्यक्ति है।

- मोहिनी हिंगोरानी